महर्षि पतञ्जलिविरचितम्

व्याकरणमहाभाष्यम्

[आह्निकत्र

श्रीचारुदेवशा

भगवत्पतञ्जलिविरचित

व्याकरण-महाभाष्य

(प्रथम आह्निकत्रय)

का

हिन्दी अनुवाद तथा विवरण

अनुवादक व विवरणकार

श्रीगान्धिचरितम्, अनुवादकला, उपसर्गार्थ-चन्द्रिका, प्रस्तावतरङ्गिणी, वाक्यमुक्तावली, व्याकरण-चन्द्रोदय, शब्दापशब्दविवेक आदि ग्रन्थों के निर्माता तथा वाक्यपदीय के परिष्कर्ता—

श्रीचारुदेव शास्त्री

एम्. ए., एम्. ओ. एल्.

प्रकाशक

श्रीमोतीलाल बनारसीदास

प्राच्य पुस्तक प्रकाशक व विक्रेता,

नेपाली खपरा, पो० ब० ७५,

वाराणसी

प्रथम संस्करण संवत् २०१६ मूल्य ४)

प्रकाशक
श्री सुन्दरलाल जैन
मोतीलाल बनारसीदास
नेपाली खपरा, पो० ब० ७५,
वाराणसी

मुद्रक :—
श्रीगोविन्द मुद्रणालय,
बुलानाला, वाराणसी।

सर्वाधिकार सुरक्षित
सन् १९६२

सर्व प्रकार की पुस्तकों का प्राप्ति-स्थान—
१. मोतीलाल बनारसीदास, बैंगलो रोड, जवाहरनगर, दिल्ली—६
२. मोतीलाल बनारसीदास, पो० ब० ७५, नेपाली खपरा, वाराणसी
३. मोतीलाल बनारसीदास, बांकीपुर—पटना

नमो भगवते पतञ्जलये । नमो गुरुभ्यः ।

प्रकृतकृतिविषयक किंचिद्वक्तव्य

महाभाष्य के प्रथम आह्निकत्रय का प्रस्तुत अनुवाद किसलिये हुआ है। इस लिये नहीं कि महाभाष्य की भाषा क्लिष्ट है, दूर-व्यवहित अन्वय आदि के कारण दुर्बोध है। भाषा इतनी सरल सुन्दर तथा मधुर है जितनी कि कभी हो सकती है। वस्तुतः इतने प्रसाद और माधुर्य भरे कुछेक ही ग्रन्थ समस्त संस्कृत साहित्य में मिलते हैं जैसे मीमांसा शाबर भाष्य, शाङ्कर ब्रह्मसूत्र भाष्य, अथवा उपनिषदों के संवाद-स्थल। तो प्रश्न होता है कि फिर इस हिन्दी अनुवाद की क्या आवश्यकता थी। उत्तर में यही कहना होगा कि भाष्याशय अतिगम्भीर है जो अप्रौढावस्थ सुकुमारमति छात्रों के लिये प्रायः अगम्य है। प्राचीन विवरणकारों कैयट आदि महाविद्वानों के संस्कृत में किये हुए व्याख्यान निश्चय ही आजकल अधिक जटिल प्रतीत होने लगे हैं, विशेषतः उद्द्योतकार नागेश की उक्तियाँ दुरूह तथा व्यामोहक प्रतीत होती हैं। भाष्य के विषय में भर्तृहरि ने अपने वाक्यपदीय में कितना यथार्थ वचन कहा है--

अलब्धगाधे गाम्भीर्यादुत्तान इव सौष्ठवात्।
तस्मिन्नकृतबुद्धीनां नैवावास्थितनिश्चयः ॥

अर्थात् भाष्य में जहाँ अथाह गहराई है वहाँ रचना-सौन्दर्य के कारण अत्यन्त प्राञ्जलता है, इत्थम्भूत भाष्य में अ-संस्कृत (अपरिपक्व) बुद्धि वालों को भाष्यकार के आशय का निश्चितज्ञान न हो सका ॥ यदि भर्तृहरि के समय में तथा उससे पूर्व ऐसी अवस्था थी तो आज यदि भाष्याशय की दुर्बोधता की अनुभूति हो तो क्या आश्चर्य है ? अतः हम ने भाषान्तर करते हुए सर्वत्र भाष्याशय को स्पष्ट करने का यत्न किया है। स्थान-स्थान पर भाष्य के पौर्वापर्य की संगति दिखाने के लिये तथा भाष्यकार के अभिप्राय के स्पष्टीकरण के लिये सुविस्तृत टिप्पण दिये हैं। व्याख्येय पदों का अर्थनिर्देश तथा विग्रह आदि भी दिया है। इसीसे इस कृति की कृतार्थता है अन्यथा भाषान्तर मात्र व्यर्थसा होता। मुझे पूर्ण आशा है भाष्यमर्मज्ञ विद्वान् इसका आदर करेंगे और भाष्यार्थ जिज्ञासु संस्कृत छात्र इसे रुचि से पढ़कर लाभ उठायेंगे ॥

अनुवादक तथा विवरणकार
विद्वच्चरणपङ्कजचञ्चरीक
चारुदेवशास्त्री

अथ शब्दानुशासनम्[1] ।

अथे'त्ययं शब्दोऽधिकारार्थः प्रयुज्यते । शब्दानुशासनं नाम शास्त्र-

अब शब्दानुशासन (= शब्द शिक्षण-नाम शास्त्र) का प्रारम्भ होता है। यहाँ 'अथ' शब्द प्रारम्भ अर्थ में प्रयुक्त किया गया है। शब्दानुशासन-नामक

---

१. वैयाकरण-सम्प्रदाय में इसे भाष्यकार का वचन माना जाता है। भाष्य के लक्षण में 'स्वपदानि च वर्ण्यन्ते' ऐसा कहने से भाष्यकार इसकी स्वयं व्याख्या करते हैं इसमें कुछ भी असमञ्जस नहीं। पर मनुभाष्यकार मेधातिथि इसे भगवान् पाणिनि के सूत्र ग्रन्थ अष्टाध्यायी का प्रथम सूत्र मानते हैं। उनका कहना है कि—"पौरुषेयेष्वपि ग्रन्थेषु नैव सर्वेषु प्रयोजनाभिधानमाद्रियते। तथा हि भगवान् पाणिनिरनुक्त्वैव प्रयोजनम् अथ शब्दानुशासनमिति सूत्रसन्दर्भमारभते" (मनु० १।१)। काशिकाकार अष्टाध्यायी की व्याख्या में प्रवृत्त हुए 'अथ शब्दानुशासनम्' को आदि में पढ़ते हैं और इसकी व्याख्या करते हैं। इससे उनके मत में यह सूत्रकार का वचन है ऐसा झलकता है। अन्यदीय वचन से प्रारम्भ करने में कुछ भी औचित्य प्रतीत नहीं होता। किं च। पातञ्जल योगसूत्र का 'अथ योगानुशासनम्' प्रथम सूत्र है, तो 'अथ शब्दानुशासनम्' यह पाणिनीयाष्टक का प्रथम सूत्र क्यों न हो। महाभाष्यकार पतञ्जलि और योगसूत्रकार पतञ्जलि एक ही व्यक्ति थे, इसमें ऐतिह्य के अतिरिक्त कोई प्रमाण नहीं। वस्तुतः 'शब्दानुशासन' अष्टाध्यायी की संज्ञा है और इसी बात को भाष्यकार 'शब्दानुशासनं नाम शास्त्रम्' में नाम शब्द से स्पष्ट कर रहे हैं। अमर सिंह की अमर कृति का नाम भी प्रतिपाद्य विषय का निर्देश करते हुए नामलिङ्गानुशासन है।

२. 'अथ' यह निपात 'आरम्भ' अर्थ का द्योतक है। कोषकार इसे 'मंगल', 'अनन्तर', 'आरम्भ', 'प्रश्न', 'कार्त्स्न्य' (परिपूर्णता) इन अर्थों में पढ़ते हैं। पर 'मंगल' 'अथ' शब्द का द्योत्य अर्थ नहीं। जैसे किसी दूसरे के लिये लिये जा रहे दही का दर्शन मंगल है ऐसे ही अथ शब्द का श्रवण मंगल है। भगवान् शङ्कराचार्य का वचन भी है—"अर्थान्तरप्रयुक्त एव ह्यथ शब्दः श्रुत्या मङ्गलप्रयोजनो भवति।"

मधिकृतं वेदितव्यम् । केषां शब्दानाम् । लौकिकानां वैदिकानां च । लौकिकास्तावत्—गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इति । वदिकाः खल्वपि—शन्नो देवीरभिष्टये[2] (अ० सं० १।६।१), इषे त्वोर्ज्जे त्वा (तै० सं० १।१।१।१), अग्निमीळे पुरोहितम् (ऋ० १।१।१), अग्न आयाहि वीतय (सा० सं० १।१।१) इति ।

अथ गौरित्यत्र कः शब्दः[3] । किं यत्तत्सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाण्यर्थ-

---

शास्त्र (यहाँ से) प्रारम्भ होता है ऐसा जानना चाहिये ।

किन शब्दों का अनुशासन ? लौकिक और वैदिक—इन दोनों प्रकार के शब्दों का । लौकिक शब्द जैसे—गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः (=पक्षी), मृगः, ब्राह्मणः । वैदिक भी जैसे—शन्नो देवीरभिष्टये, इषे त्वोर्ज्जे त्वा, अग्निमीळे पुरोहितम्, अग्न आयाहि वीतये इत्यादि ।

अब 'गौः' इसमें कौनसा शब्द है ? क्या जो गलकंबल, पूँछ, कुहान, खुर,

---

१. लौकिक का अर्थ है लोक में प्रसिद्ध । लोक से यहाँ सर्वलोक अभिप्रेत है । साधु शब्द लोक में सर्वत्र प्रसिद्ध होते हैं और अपभ्रंश कहीं-कहीं । सो यहाँ सर्वलोकप्रसिद्ध साधु शब्दों का अनुशासन है, अपभ्रंशों का नहीं । लौकिक वाग्व्यवहार में पदानुपूर्वी नियत नहीं होती, वेदवाक्यों में पदानुपूर्वी नियत है, वह बदली नहीं जा सकती । अतः लौकिक शब्दों को एक-एक करके स्वतन्त्र रूप में पढ़ दिया है, पर वैदिक शब्दों को मन्त्रस्थ क्रम-विशेष-विशिष्ट ही पढ़ा है ।

२. शन्नो देवी······यह अथर्ववेद की पिप्पलाद शाखा का प्रथम मन्त्र है ऐसा छान्दोग्यमन्त्रभाष्य (६. ६. ४८) में गुणविष्णु का कथन है । वर्तमान में उपलब्ध पिप्पलाद संहिता का आदि लुप्त हो चुका है । संभवतः भाष्यकार पिप्पलाद शाखीय अथर्ववेदी थे । 'खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति' इस वचन से भी भाष्यकार का अथर्ववेदी होना संकेतित माना जाता है ।

३. लोक व्यवहार से यह विदित ही है कि 'शब्द' अर्थबोधक वर्णात्मक ध्वनि को कहते हैं, तो 'गौः' यहाँ शब्द कौन सा है यह जिज्ञासा ही नहीं होती । फिर इस प्रश्न का क्या आशय है ? लोक में शब्द और अर्थ का अभेद से व्यवहार ही इस शङ्का का बीज है । सामने उपस्थित गलकंबल आदि वाले पदार्थ के विषय में जब प्रश्न होता है—यह क्या है, अर्थात् इसका वाचक (नाम) क्या है, तो हमारा उत्तर होता है - यह गौ है । यहाँ 'यह' पदार्थ का संकेत करता हुआ उद्देश्य है और 'गौ' विधेय है । दोनों का सामानाधिकरण्य से निर्देश हुआ है । अर्थ शब्द है ऐसा कह रहे हैं । सो शब्द और द्रव्य का अभेद तो इतने से ही स्पष्ट है । इसलिये इस

रूपं स शब्दः। नेत्याह। द्रव्यं नाम तत्। यत्तर्हि तदिङ्गितं चेष्टितं निमिषितमिति स शब्दः। नेत्याह। क्रिया नाम सा। यत्तर्हि तच्छुक्लो नीलः कपिलः कपोत इति स शब्दः। नेत्याह। गुणो नाम सः। यत्तर्हि तद्भिन्नेष्वभिन्नं छिन्नेष्वच्छिन्नं सामान्यभूतं स शब्दः नेत्याह। आकृतिर्नाम सा। कस्तर्हि शब्दः। येनोच्चारितेन सास्नालाङ्गूलककुदखुरविषाणिनां सम्प्रत्ययो भवति स शब्दः[1]।

सींगवाला पदार्थ है वह शब्द है? वैयाकरण कहता है—नहीं, वह तो द्रव्य है।

तो क्या जो सङ्केत करना (आँख आदि से हृदय के भाव का प्रकाशन) चेष्टा (शरीर की हलचल) तथा आँख का झपकना, वह शब्द है? वैयाकरण कहता है—नहीं, वह तो क्रिया है।

तो क्या जो शुक्ल, नील, कपिल (भूरा), कपोत (चितकबरा) है वह शब्द है। वैयाकरण कहता है—नहीं, वह तो गुण है।

तो फिर क्या जो भिन्न-भिन्न पदार्थों (द्रव्यों) में एकरूप है और जो उनके नष्ट होने पर भी नष्ट नहीं होता, सबमें साधारण, अनुगत है वह शब्द है? वैयाकरण कहता है—नहीं, वह तो जाति है।

तो आखिर शब्द है क्या?

जो उच्चारित ध्वनियों से अभिव्यक्त होकर गलकंबल, पूँछ, कुहान, खुर, सींग वाले गो व्यक्तियों का बोध कराता है वह शब्द है।

अभेद के कारण द्रव्य में शब्द की शङ्का उपपन्न ही है। रही जाति, गुण, क्रिया में शब्दकी शङ्का की उपपत्ति सो यूँ है—जाति, गुण, क्रिया का, जो द्रव्य में रहते हैं, सीधा शब्द के साथ अभेद न सही, तो भी जाति-व्यक्ति का, गुण-गुणी का, क्रिया-क्रियावत् का अभेद होने से जाति, गुण, क्रिया से अभिन्न द्रव्य के साथ अभेद-प्राप्त हुए शब्द का जाति, गुण, क्रिया के साथ भी अभेद सिद्ध होता है। 'गौः' इस उच्चारण के अनन्तर बुद्धि में जो नाना अर्थ (द्रव्य के अतिरिक्त) जाति गुण क्रिया भासते हैं उनके साथ भी शब्द का तादात्म्य होने से उनके विषय में भी ये शब्द हैं यह शङ्का युक्त ही है।

१. वैयाकरण का मत है कि उच्चारित होकर क्षणान्तर में नष्ट हो जाने वाले वर्ण अर्थ का बोध नहीं करा सकते। उनमें वाचकत्व नहीं। जो श्रवण का विषय है वह बोधक नहीं। वैयाकरण शब्द को एक नित्य तत्त्व मानता है जो उच्चारित ध्वनियों से अभिव्यक्त होता है और अभिव्यक्त होने पर उस-उस अर्थ का बोध कराता है। इसीलिये उसे 'स्फोट' कहते हैं, जिसकी व्युत्पत्त्यर्थ है—स्फुटत्यर्थोऽस्मादिति।

अथवा प्रतीतपदार्थको लोके ध्वनिः[1] शब्द इत्युच्यते। तद्यथा—शब्दं कुरु, मा शब्दं कार्षीः, शब्दकार्ययं माणवक इति ध्वनिं कुर्वन्नेवमुच्यते। तस्माद् ध्वनिः शब्दः।

कानि पुनः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि? रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्। रक्षार्थं वेदानामध्येयं व्याकरणम्। लोपागमवर्णविकारज्ञो हि सम्यग्वेदान् परिपालयिष्यतीति[2]। ऊहः[3] खल्वपि। न सर्वैर्लिङ्गैर्न च सर्वाभि-

---

अथवा लोक व्यवहार में जिस ध्वनि से अर्थ का बोध होता है वह शब्द कहलाता है। जैसा कि ध्वनि करते हुए एक लड़के को उद्देश करके कहा जाता है—(और अधिक) शब्द करो, शब्द मत करो, यह लड़का शब्दकारी (शोर करनेवाला) है। अतः ध्वनि शब्द है।

शब्दानुशासन (शास्त्र के अध्ययन) के क्या-क्या प्रयोजन हैं?

रक्षा, ऊह (विभक्ति आदि का परिवर्तन), आगम (विधायक शास्त्र), लाघव (सरलता, आसानी), सन्देहनिवृत्ति---ये प्रयोजन हैं।

(वेदों की) रक्षा के लिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। क्योंकि लोप, आगम, आदेश को जानने वाला वेदों की ठीक तरह से रक्षा कर सकेगा। ऊह भी प्रयोजन

---

१. यहाँ लोक व्यवहार में जैसा शब्द समझा जाता है उसका लक्षण किया है, यह कार्य है, अनित्य है। नैयायिक इसे ही शब्द समझते हैं।

२. भाव यह है कि लोक में लोप, आगम और आदेशों को न देखकर और वेद में उन्हें देखकर व्याकरण न जाननेवाला भ्रान्त हो सकता है और लोक का अनुसरण करते हुए वैदिक शब्दों को भी वैसे ही पढ़ने की चेष्टा करेगा ऐसी संभावना हो सकती है। देवा अदुह्र—यहाँ 'र्' का आगम हुआ है और 'त' का लोप। लोक में 'अदुहत' ऐसा लङ् बहु॰ आ॰ में प्रयोग होता है। मध्वा कर्तोर्विततं संजभार—यहाँ 'ह्' के स्थान में 'भ्' आदेश हुआ है। लोक में संजहार रूप प्रसिद्ध है।

३. प्रकृति याग में विनियुक्त मन्त्रों के देवतादि वाचक पदों को विकृति याग के देवता आदि का बोध कराने के लिये बदलना 'ऊह' कहलाता है। सब इष्टियागों की दर्शपूर्णमास प्रकृति है और सभी सोमयागों की अग्निष्टोम याग प्रकृति है। जिसमें इतिकर्तव्यता पूर्णरूप से कही होती है वह प्रकृतियाग होता है और जिसमें 'प्रकृतिवद् विकृतिः कर्तव्या' इस वचन से प्रकृति याग से ली जाती है वह विकृति। अब प्रकृति याग के 'अग्नये त्वा जुष्टं निर्वपामि' इस मन्त्र में आये हुए 'अग्नि' शब्द के स्थान पर 'सौर्यं चरुं निर्वपेद् ब्रह्मवर्चसकामः' (ब्रह्मतेज चाहता हुआ सूर्य को चरु की आहुति दे) इस वचन के अनुसार चतुर्थ्यन्त सूर्य शब्द का प्रयोग करके 'सूर्याय त्वा जुष्टं निर्वपामि' इस मन्त्र से आहुति देनी है। यह प्रकृति का ऊह है, विभक्ति का नहीं, विभक्ति

विभक्तिभिर्वेदे मन्त्रा निगदिताः। ते चावश्यं यज्ञगतेन पुरुषेण यथायथं विपरिणमयितव्याः। तान्नावैयाकरणः शक्नोति यथायथं विपरिणमयितुम्। तस्मादध्येयं व्याकरणम्। आगमः[1] खल्वपि। ब्राह्मणेन निष्कारणो धर्मः षडङ्गो वेदोऽध्येयो ज्ञेयश्चेति। प्रधाने च कृतो यत्नः फलवान्भवति।

लघ्वर्थं चाध्येयं व्याकरणम्। ब्राह्मणेनावश्यं शब्दा ज्ञेया इति। न चान्तरेण व्याकरणं लघुनोपायेन शब्दाः शक्या ज्ञातुम्। असन्देहार्थं चाध्येयं व्याकरणम्। याज्ञिकाः पठन्ति—स्थूलपृषतीमाग्निवारुणीमनड्वाहीमालभेतेति। तस्यां सन्देहः—स्थूला चासौ पृषती च स्थूलपृषती, स्थूलानि पृषन्ति यस्याः

है। वेद में मन्त्र सभी लिङ्गों में और सभी विभक्तियों सहित नहीं पढ़े गये। उन्हें यज्ञ में प्रवृत्त हुए पुरुष को अवश्य ही उचित रीति से बदलना होता है। (और) व्याकरण न जानने वाला उन्हें उचित रीति से बदल नहीं सकता। इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये।

शास्त्र भी (व्याकरणाध्ययन का) प्रयोजक (विधायक, प्रेरक) है (वह कहता है) ब्राह्मण को बिना कारण (लाभ आदि प्रयोजन-रहित) धर्म स्वरूप छः अंगों वाला वेद पढ़ना चाहिये और उसे जानना चाहिये। छः अंगों में व्याकरण प्रधान है और प्रधान में किया हुआ यत्न प्रचुर फल वाला होता है।

लाघव के कारण व्याकरण पढ़ना चाहिये। ब्राह्मण को शब्द अवश्य जानने हैं। व्याकरण को छोड़ और किसी लघु (छोटा, सरल) उपाय से शब्द जाने नहीं जा सकते।

सन्देह की निवृत्ति के लिये भी व्याकरण पढ़ना चाहिये। याज्ञिक (कर्मकाण्डी) लोग पढ़ते हैं—स्थूलपृषती गाय को अग्नि तथा वरुण देवताओं के उद्देश से आलम्भन करे अर्थात् भेंट दे। 'स्थूलपृषती' इस विशेषण पद के अर्थ में सन्देह होता है, वह मोटी भी है और बिन्दुमती भी है (ऐसा अर्थ है) अथवा जिसके (शरीर पर) स्थूल

वही रही। लिङ्ग का ऊह यथा—'देवीरापः शुद्धाः स्थः' में स्त्रीलिङ्ग, 'शुद्धाः' के स्थानपर 'देवाऽऽज्य शुद्धमसि' इस मन्त्र में आज्य शब्द के साथ अन्वित होने के कारण 'शुद्धम्' इस प्रकार नपुंसक लिंग में विपरिणाम।

१. आगम के साथ आया हुआ प्रयोजन शब्द प्रयोजक को कहता है। यहाँ 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः' यह द्वन्द्व बहुवचनान्त है, पर 'प्रयोजनम्' यह एकवचनान्त है। यहाँ एकशेष हुआ है—प्रयोजनी (रक्षा) च प्रयोजनश्च प्रयोजनश्च प्रयोजनं (अलघु) प्रयोजनश्चेति प्रयोजनम्, पक्ष में 'प्रयोजनानि' भी होगा इसमें 'नपुंसकमनपुंसके नैकवच्चास्यान्यतरस्याम्' (१।२।६९)—यह शास्त्र प्रमाण है।

सेयं स्थूलपृषतीति । तां नावैयाकरणः स्वरतोऽध्यवस्यति[१] । यदि पूर्वपदप्रकृति-स्वरत्वं ततो बहुव्रीहिः, अथ समासान्तोदात्तत्वं ततस्तत्पुरुष इति ।

इमानि च भूयः शब्दानुशासनस्य प्रयोजनानि—तेऽसुराः । दुष्टः शब्दः । यदधीतम् । यस्तु प्रयुङ्क्ते । अविद्वांसः । विभक्तिं कुर्वन्ति । यो वा इमाम् । चत्वारि । उत त्वः । सक्तुमिव । सारस्वतीम् । दशम्यां पुत्रस्य । सुदेवो असि वरुणेति ।

तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुः । तस्माद् ब्राह्मणेन न म्लेच्छितवै नापभाषितवै । म्लेच्छो ह वा एष यदपशब्दः । तेऽसुराः ।

बिन्दु हैं ऐसा । जो व्याकरण नहीं जानता वह उसके विषय में स्वर से निश्चय नहीं कर सकता । यदि (समास 'स्थूलपृषती') के पूर्वपद (स्थूल) का अपना ही स्वर यहाँ है तो यह बहुव्रीहि है, यदि समास का अन्त्य अच् उदात्त है तो यह तत्पुरुष है ।

शब्दानुशासन के यह और भी प्रयोजन हैं—तेऽसुराः । दुष्टः शब्दः । यदधीतम् । यस्तु प्रयुङ्क्ते । अविद्वांसः । विभक्तिं कुर्वन्ति । यो वा इमाम् । चत्वारि । उत त्वः । सक्तुमिव । सारस्वतीम् । दशम्यां पुत्रस्य । सुदेवो असि वरुण इति ।

वे असुर हेलयः, हेलयः (हे शत्रुओ, हे शत्रुओ) चिल्लाते हुए पराजित हो गये । इसलिये ब्राह्मण को म्लेच्छन अर्थात् अपभाषण नहीं करना चाहिये । जो अपशब्द है वह निश्चय से म्लेच्छ है । तेऽसुराः ।

---

१. वेदार्थ में स्वर (उदात्त, अनुदात्त, स्वरित) नियामक है । मनमाना अर्थ नहीं किया जा सकता । स्वर और संस्कार (= प्रकृति प्रत्ययादि से शब्द की व्युत्पत्ति) जाने बिना अर्थ का बोध नहीं हो सकता और स्वर संस्कार व्याकरण से ही जाने जाते हैं । 'स्थूलपृषती' शब्द के अर्थ में जब सन्देह हुआ तो इसका निश्चय स्वर को देखकर ही हो सकता है । अब व्याकरण शास्त्र बताता है 'बहुव्रीहौ प्रकृत्या पूर्वपदम् (६।२।१)' अर्थात् बहुव्रीहि समास में पूर्वपद का ही अपना स्वर (= उदात्त) रहता है शेष निघात (अनुदात्त) हो जाता है । कारण कि पद में (यहाँ समास होकर जो नया पद बना है उसमें भी) एक अच् उदात्त होता है (अथवा स्वरित होता है) शेष अनुदात्त रहता है । स्थूल शब्द अन्तोदात्त है । स्थूल इसका 'पृषत्' के साथ समास हुआ है । समस्त पद में एक ही स्वर (उदात्त) होने से पृषत् निघात होगा । समास होकर स्त्रीत्व विवक्षा में 'उगितश्च' (४।१।६) से ङीप् प्रत्यय होगा । ङीप् प्रत्यय भी अनुदात्त होता है, अतः 'पृषती' भी सारा अनुदात्त ही रहेगा । पर स्थूल के ल (उदात्त) से परे पृ अनुदात्त को 'उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः' (८।४।६६) से स्वरित होकर शेष दो अनुदात्तों का प्रचय रहेगा । तो स्थूलपृषती ऐसे स्वराङ्कन होगा । तत्पुरुष में समासान्त उदात्त होने से स्थूलपृषती ऐसा ।

दुष्टः शब्दः । "दुष्टः शब्दः स्वरतो वर्णतो वा मिथ्या प्रयुक्तो न तमर्थमाह । स वाग्वज्रो यजमानं हिनस्ति यथेन्द्रशत्रुः[1] स्वरतोऽपराधात्" ।।इति। दुष्टाञ्छब्दान्मा प्रयुक्ष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् । दुष्टः शब्दः ।

यदधीतम् । "यदधीतमविज्ञातं निगदेनैव शब्द्यते । अनग्नाविव[2] शुष्कैधो न तज्ज्वलति कर्हिचित् ।।" तस्मादनर्थकं माऽधिगीष्महीत्यध्येयं व्याकरणम् । यदधीतम् ।

यस्तु प्रयुङ्क्ते । "यस्तु प्रयुङ्क्ते कुशलो विशेषे शब्दान् यथावद् व्यवहारकाले । सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः ।।

स्वर और वर्ण की दृष्टि से अशुद्ध उच्चारण किया हुआ दोषयुक्त शब्द अपने विवक्षित अर्थ को नहीं कहता । वह वाणीरूप वज्र ही यजमान को मार देता है जैसे इन्द्रशत्रु (वृत्र , स्वर-दोष के कारण मारा गया । हम दोष-युक्त शब्दों का प्रयोग न करें, इसलिये हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये । दुष्टः शब्दः ।

जो (मन्त्रादि अक्षरादिरूप से ग्रहण तो किया, पर समझा नहीं, केवल पाठ-मात्र से उच्चारण किया, वह कभी भी प्रकाश नहीं करता जैसे अग्नि के अभाव में सूखा इंधन कभी नहीं जलता । यदधीतम् ।

जो शब्दों के प्रयोगविशेष में कुशल व्यवहार के समय उन्हें ठीक-ठीक प्रयोग करता है वह शब्दार्थ सम्बन्ध जानने वाला परलोक में अनन्त उत्कर्ष को प्राप्त होता है और अपशब्दों से पाप का भागी होता है ।

---

१. ऐसी कथा है कि त्वष्टा के पुत्र विश्वरूप को इन्द्र ने मार दिया । अब त्वष्टा इन्द्र को मारने के लिये एक अभिचार याग करता है । उसमें वह 'स्वाहेन्द्रशत्रुर्वर्धस्व' ऐसा मन्त्र पढ़ता है । यहाँ शत्रु क्रिया शब्द है संज्ञा शब्द नहीं। शत्रु=शातयिता =नाशक । अब त्वष्टा यह कहना चाहता था कि हे अग्नि तू ऐसे बढ़ कि तेरी ज्वालाओं में उत्पन्न हुआ असुर (वृत्र) इन्द्रशत्रु अर्थात् इन्द्र का नाशक हो । यह अभिप्रेत अर्थ तब सिद्ध होता यदि वह इन्द्रशत्रु शब्द को तत्पुरुष समास बनाकर इसके अन्त में उदात्त पढ़ता । पर उसने प्रमाद से पूर्वपद के प्रकृति स्वर से युक्त पढ़ दिया जिससे यह बहुव्रीहि समास हो गया, जो अन्य पदार्थ प्रधान होता है जिससे वह यह कह बैठा कि हे अग्नि तू 'इन्द्र है नाशक जिसका' ऐसे रूपवाला होता हुआ बढ़ । तिस पर वृत्र उत्पन्न होता हुआ ही इन्द्र से मारा गया । यह कथा तैत्तिरीय संहिता के द्वितीय काण्ड के पञ्चम प्रपाठक में दी गई है ।

२. अनग्नौ—यहाँ उपश्लेषरूप आधार में सप्तमी है । उपश्लेष=संयोग, सामीप्य । अर्थात् जब अग्नि का ईन्धन के साथ संयोग नहीं ।

३. माङ् उपपद होनेपर इङ् अध्ययने का यह लुङ् उत्तमपुरुष बहु० में रूप है ।

कः । वाग्योगविदेव[1] । कुत एतत् । यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दा-न्प्यसौ जानाति । यथैव हि शब्दज्ञाने धर्मः, एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः । अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसोऽपशब्दाः, अल्पीयांसः शब्दा इति ।

एकैकस्य हि शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा । गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः अथ योऽवाग्योगवित् । अज्ञानं[2] तस्य शरणम् । विषम उपन्यासः । नात्यन्तायाऽज्ञानं शरणं भवितु-मर्हति । यो ह्यजानन्वै ब्राह्मणं हन्यात् सुरां वा पिबेत्सोऽपि मन्ये पतितः स्यात् । एवं तर्हि । सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चाप-शब्दैः ॥ कः । अवाग्योगविदेव । अथ यो वाग्योगविद्, विज्ञानं[3] तस्य

कौन ?

शब्दार्थ सम्बन्ध जाननेवाला ही ।

ऐसा कैसे जाना ?

जो शब्दों को जानता है वह अपशब्दों को भी जानता है । जैसे शब्द-ज्ञान में धर्म है, वैसे ही अपशब्दज्ञान में अधर्म भी । अथवा अधिक अधर्म होता है ।

क्यों ?

इसलिये कि अपशब्द अधिक हैं, शब्द (उनकी अपेक्षा से) थोड़े हैं ।

एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश होते हैं, जैसे 'गौः' इस एक शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश होते हैं । अब जो वाग् अर्थ सम्बन्ध को नहीं जानता उसका अज्ञान रक्षक होता है, अर्थात् अज्ञान उसे पातित्य से बचायेगा । यह कथन ठीक नहीं । अज्ञान पूर्णरूप से बचा नहीं सकता । जो कोई न जानता हुआ भी ब्राह्मण की हत्या कर दे अथवा सुरा पीए, मैं मानता हूँ कि वह भी पतित होगा । व्यवस्था होनेपर "सोऽनन्तमाप्नोति जयं परत्र वाग्योगविद् दुष्यति चापशब्दैः"—यह जो पढ़ा है इस 'दुष्यति' का कर्ता कौन है ? निश्चित ही 'अवाग्योगविद्' क्योंकि जो वाग-योगविद् (शब्दार्थसम्बन्ध को जानने वाला) है विशिष्ट ज्ञान उसका रक्षक है ।

---

१. प्रत्यासत्ति से (पास में श्रूयमाण होने से) वाग्योगविद् का ही 'दुष्यति' क्रिया-पद के साथ अन्वय होना चाहिये, ऐसा पूर्वपक्षी का अभिप्राय है । जिसे वह आगे युक्ति से पुष्ट करता है ।

२. कहने वाले का भाव यह है कि अज्ञान से किया हुआ कर्म मानो न किया-सा होता है, उस से पाप का प्रसङ्ग नहीं ।

३ इसे भाष्यकार स्वयं आगे चलकर 'अथवा पुनरस्तु ज्ञान एव धर्मः' इत्यादि सन्दर्भ से स्पष्ट करेंगे ।

शरणम् । क पुनरिदं पठितम् । भ्राजा[1] नाम श्लोकाः । किं च भोः श्लोका अपि प्रमाणम् । किं चातः । यदि श्लोका अपि प्रमाणम्, अयमपि श्लोकः प्रमाणं भवितुमर्हति । "यदुदुम्बरवर्णानां घटीनां मण्डलं महत् । पीतं न गमयेत्स्वर्गं किं तत् क्रतुगतं नयेत्[2] ॥" प्रमत्तगीत एष तत्रभवतः । यस्त्वप्रमत्तगीतस्तत्प्रमाणम् । यस्तु प्रयुङ्क्ते ॥

अविद्वांसः । "अविद्वांसः प्रत्यभिवादे नाम्नो ये न प्लुतिं विदुः[3] । कामं तेषु तु विप्रोष्य स्त्रीष्विवायमहं वदेत् ॥" अभिवादे स्त्रीवन्मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम् । अविद्वांसः ॥

यह वचन कहाँ पढ़ा है ?

भ्राज नामक श्लोक हैं (वहाँ) ।

क्यों जी, श्लोक भी प्रमाण होने लगे ?

इससे क्या हुआ ?

यदि श्लोक भी प्रमाण है तो यह श्लोक भी प्रमाण हो जायगा ।

जो ताम्बे के वर्णवाली मटकियों का बड़ा समूह पीआ हुआ स्वर्ग की प्राप्ति नहीं करा सकता तो यज्ञ (सौत्रामणी याग) में थोड़ा-सा सुरापान कभी स्वर्ग की प्राप्ति करा सकता है ?

प्रमाद (अनवधान) से पढ़ा हुआ यह पूज्य का वचन है ।

जो (कोई अन्य) वचन सावधान होकर पढ़ा गया है वही प्रमाण है ।

अविद्वांसः । जो अविद्वान् अभिवादन के उत्तर (आशीर्वाद वाक्य) में (अभिवादक के) नाम को प्लुत करना नहीं जानते, बाहिर से आकर उन के प्रति भले ही 'अयमहम्' यह मैं हूँ ऐसा कहे जैसे स्त्रियों के विषय में कहने की रीति है । अभिवादन में हमारे प्रति स्त्रियों का सा व्यवहार न हो, अतः व्याकरण पढ़ना चाहिये ।

---

१. भ्राज नाम से प्रसिद्ध कात्यायन प्रणीत श्लोक कहे जाते हैं ।

२. सौत्रामणी-याग में किञ्चित् सुरापान का विधान है, वह यज्ञाङ्ग है और अदृष्ट की उत्पत्ति में सहकारी है । उस अदृष्ट से दैत्यों को वञ्चित करने के हेतु महेश्वर ने प्रमत्त-सा होकर उनकी इसमें अश्रद्धा उत्पन्न करने के लिये यह वचन कहा—ऐसा सम्प्रदाय है ।

३. अभिवादन के विषय में मनु का ऐसा विधान है—

अभिवादात्परं विप्रो ज्यायांसमभिवादयन् ।
असौ नामाहमस्मीति स्वं नाम परिकीर्तयेत् ॥
नामधेयस्य ये केचिदभिवादं न जानते ।
तान्प्राज्ञोऽयमहं ब्रूयात् स्त्रियः सर्वास्तथैव च ॥ (२ । १२२)

विभक्तिं कुर्वन्ति । याज्ञिकाः पठन्ति—प्रयाजाः[1] सविभक्तिकाः कार्या इति । न चान्तरेण व्याकरणं प्रयाजाः सविभक्तिकाः शक्याः कर्तुम् । विभक्तिं कुर्वन्ति ॥

यो वा इमाम् । यो वा इमां पदशः स्वरशोऽक्षरशश्च वाचं विदधाति[2] स आर्त्विजीनो[3] भवति । आर्त्विजीनाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम् । यो

विभक्ति लगाकर उच्चारण करते हैं । यजुर्वेदी कर्मकाण्डी लोग पढ़ते हैं—प्रयाज मन्त्रों को विभक्ति-युक्त कर पढ़ना चाहिये, पर व्याकरण जाने बिना प्रयाजों को विभक्तियुक्त नहीं किया जा सकता । विभक्तिं कुर्वन्ति ॥

जो इसको । जो इस (वाणी) का पद, स्वर तथा अक्षर के विषय में ठीक-ठीक उच्चारण करता है । वह आर्त्विजीन (ऋत्विक् प्राति का अधिकारी यजमान अथवा ऋत्विक् कर्म कराने का अधिकारी याजक) होता है । हम आर्त्विजीन हों

अर्थात् विप्र (देवदत्त आदि) अपने से बड़ी उम्र वाले को नमस्कार करना चाहता हुआ अपने नाम का उच्चारण करते हुए 'अभिवादये देवदत्तोऽहं भोः' ऐसा अभिवादन वाक्य बोले । पर उन लोगों के प्रति जो प्रत्यभिवादन में नाम का प्लुत करना नहीं जानते, ऐसे ही सब स्त्रियों के प्रति भी 'अयमहम्' ही कहे । भगवान् सूत्रकार पढ़ते हैं—"प्रत्यभिवादेऽशूद्रे" (८ । २ । ८३) । शूद्रविषयक प्रत्यभिवादन से अन्यत्र वाक्य की 'टि' को प्लुत होता है । तदनुसार आयुष्मानेधि देवदत्ता ३ इस प्रकार का आशीर्वाद वाक्य होता है ।

१ जब किसी कारण कर्म-विच्छेद हो जाय तो पुनराधेय इष्टि की जाती है । उस पुनराधेयेष्टि की इतिकर्तव्यता के विषय में यह वचन पढ़ा गया है । प्रयाज पांच होते हैं । ये पहले ही विभक्ति सहित पढ़े ही हैं, फिर इस विधान का क्या अर्थ है । विभक्ति प्रत्यय है इससे प्रकृतिका आक्षेप होता है और चूँकि 'त्वमग्ने प्रयाजानां पुरस्तात्त्वं पश्चात्' ऐसा वेदवाक्य है, अतः 'अग्नि' शब्द ही यहाँ प्रकृति ली जाती है और इसे प्रथमा (सम्बुद्धि), सप्तमी, तृतीया और द्वितीया इन चार विभक्तियों से युक्त पढ़ा जाता है । 'समिधोऽग्ने आज्यस्य व्येतु' इत्यादि पांच मन्त्र हैं । पहले चार में अग्ने अग्ने अग्नावग्ने, अग्निना अग्ने, अग्निमग्ने इस प्रकार एक और अग्नि शब्द विभक्ति युक्त पढ़ा जाता है । 'चतुर्षु प्रयाजेषु चतस्रो विभक्तीर्ददाति नोत्तमे' इस आपस्तम्ब के वचनानुसार अन्त्य पांचवें मन्त्र में अग्नि शब्द सविभक्ति नहीं दिया जाता ।

२. विदधाति=करोति, उच्चारण करता है । क्रिया-सामान्य से क्रियाविशेष विवक्षित है । वाजसनेय प्रातिशाख्य (८। २७) में भी कहा है—'वर्णशोऽक्षरशो ज्ञानाद् विभक्तिपदशोपि च ।'

३. आर्त्विजीन शब्द को दो प्रकार से व्युत्पादन करते हैं । सूत्रकार कहते हैं—

वा इमाम् ॥

चत्वारि । "चत्वारि शृङ्गा त्रयो अस्य पादा द्वे शीर्षे सप्त हस्तासो अस्य । त्रिधा बद्धो वृषभो रोरवीति महो देवो मर्त्यां आ विवेश[1] ॥" इति । चत्वारि शृङ्गाणि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । त्रयो अस्य पादाः त्रयः काला भूतभविष्यद्वर्तमानाः । द्वे शीर्षे द्वौ शब्दात्मानौ नित्यः कार्यश्च । सप्त विभक्तयः । त्रिधा बद्धः त्रिषु स्थानेषु बद्ध उरसि कण्ठे शिरसीति । वृषभो वर्षणात् । रोरवीति शब्दं करोति । कुत एतत् । रौतिः । शब्दकर्मा महो देवो मर्त्यां आविवेशेति महान् देवः शब्दः । मर्त्या मरणधर्म्माणो मनुष्यास्ताना-विवेश । महता देवेन नः साम्यं यथा स्यादित्यध्येयं व्याकरणम् ।

अपर आह--चत्वारि 'वाक्परिमिता पदानि तानि विदुर्ब्राह्मणा ये

इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये । यो वा इमाम् ॥

चार । इसके चार सींग हैं, तीन चरण हैं, दो सिर हैं और सात हाथ हैं । तीन स्थानों में बँधा हुआ 'वृषभ' बड़ा शब्द करता है । महान् देव मनुष्यों में प्रवेश किये हुए है । जो इसके चार सींग कहे हैं वे चार पद राशियाँ हैं और वे हैं --नाम, आखयात, उपसर्ग और निपात । जो इसके तीन पाद हैं वे भूत, भविष्यत्, वर्तमान—ये तीन काल हैं । जो इसके दो सिर कहे हैं वह दो प्रकार का शब्द है—एक नित्य, दूसरा कार्य (उत्पाद्य, अनित्य) । जो इसके सात हाथ हैं वे सात विभक्तियाँ हैं । 'तीन स्थानों में बँधा हुआ' इस का अर्थ है—छाती, कण्ठ व सिर में बँधा हुआ । (कामनाओं की) वृष्टि करने से वह 'वृषभ' है । 'रोरवीति' का अर्थ है शब्द करता है । यह कैसे ? रु धातु शब्द करने अर्थ में पढ़ी है । महो देवः इत्यादि का अर्थ है—(वह) महान् देव रूप शब्द मरण-स्वभाव वाले मनुष्यों के भीतर प्रवेश किये हुए है । उस महान् देव के साथ हमारा सायुज्य हो, इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये ।

दूसरा कहता है--वाणी चार पदों में परिच्छिन्न है, इन चार पदों को मन

'यज्ञर्त्विग्भ्यां घखञौ' (५ । १ । ७१) अर्थात् 'यज्ञ' और 'ऋत्विक्' से 'उसके योग्य है' इस अर्थ में क्रम से घ, खञ् प्रत्यय होते हैं । इससे खञ्प्रत्ययान्त आर्त्विजीन का अर्थ यजमान हुआ । इस पर वार्तिककार का कहना है कि 'यज्ञर्त्विग्भ्यां तत्कर्मार्हतीति चोप-संख्यानम्' इससे ऋत्विक् के कर्म में योग्य होनेवाले में प्रत्यय होकर आर्त्विजीन ऋत्विक् (याजक) का बोधक होता है ।

१. ऋ० ४ । ५८ । ३ ॥

२. वेद में वाक् आद्युदात्त पढ़ा है । पद पाठ में भी पृथक् पद ही पढ़ा है । अतः यह प्रथमान्त स्वतन्त्र पद है ऐसा प्रतीत होता है । प्रथमान्त का अन्वय सीधा

मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति तुरीयं वाचो मनुष्या वदन्ति[1] ॥ चत्वारि वाक्परिमितानि पदानि चत्वारि पदजातानि नामाख्यातोपसर्गनिपाताश्च । तानि विदुर्ब्राह्मणा ये मनीषिणः । मनस ईषिणो मनीषिणः । गुहा त्रीणि निहिता नेङ्गयन्ति । गुहायां त्रीणि निहितानि नेङ्गयन्ति न चेष्टन्ते न निमिषन्तीत्यर्थः । तुरीयं वा एतद्वाचो यन्मनुष्येषु वर्तते चतुर्थमित्यर्थः । चत्वारि ॥

उत त्वः[2] । "उत त्वः पश्यन्न ददर्श वाचमुत त्वः शृण्वन्न शृणोत्येनाम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे[3] जायेव पत्य उशती सुवासाः ॥" उत त्वः अपि खल्वेकः पश्यन्नपि न पश्यति वाचम् । अपि खल्वेकः शृण्वन्नपि न शृणोत्येनाम् इति । अविद्वांसमाहार्धम् । उतो त्वस्मै तन्वं विसस्रे तनुं विवृणुते । जायेव पत्य उशती[4] सुवासाः[5] । तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः

का संयम किये हुए ब्राह्मण जानते हैं । इसके तीन भाग गुफा में छिपे हुए चेष्टा नहीं करते । वाणी के चौथे भाग को मनुष्य (साधारण अवैयाकरण) बोलते हैं ॥ चार वाणी के परिच्छेदक पद-समूह नाम आख्यात उपसर्ग और निपात हैं । मनीषी ब्राह्मण उन्हें जानते हैं । मन पर अधिकार रखने वाले 'मनीषी' कहलाते हैं । 'गुहा……… नेङ्गयन्ति' का अर्थ यह है कि तीन (भाग) गुफा में छिपे हुए चेष्टा नहीं करते, झपकते नहीं । 'तुरीयं…… वदन्ति' का अर्थ यह है कि यह वाणी का चौथा भाग है जो मनुष्यों में है (जो मनुष्य = अवैयाकरणों के व्यवहार में आता है) । चत्वारि ।

और एक । उत त्वः—इस मन्त्र का अर्थ यह है—कोई एक वाणी को देखता हुआ भी नहीं देखता, दूसरा इसे सुनता हुआ भी निश्चय ही नहीं सुनता । ऋचा का यह आधा भाग अविद्वान् के विषय में है । 'उतो…विसस्रे' का अर्थ यह है कि और किसी दूसरे के प्रति अपने स्वरूप को खोल देती है । 'जायेव…सुवासाः' का अर्थ यह है कि जिस प्रकार सुन्दर शुभ्र वस्त्र धारण किये हुए (ऋतु-स्नाता) स्त्री कामना करती

लग जाता है—वाक् चत्वारि परिमितानि पदानि भवति । षष्ठी पूर्वपद समास मानने में जहाँ स्वर से विरोध पड़ता है वहाँ समास भी 'असमर्थ' ही होता है, क्योंकि वाक् का 'पदानि' के साथ सम्बन्ध है । यहाँ चारों पदों से नाम, आख्यात, उपसर्ग और निपात का ही ग्रहण इष्ट है, परा, पश्यन्ती, मध्यमा तथा वैखरी का नहीं । 'पद' कहने से ही उनका व्यवच्छेद हो जाता है ।

१. ऋ० १।१६४।४५॥
२. वेद में 'त्व' 'एक' अर्थ का वाचक सर्वनाम है ।
३. विसस्रे—यह विपूर्वक 'सृ' का लिट प्रथम पु० एक० का रूप है ।
४. 'उशती'—वश कान्तौ इस धातु का शत्रन्त स्त्रीलिंग रूप है ।
५. सुवासाः, शोभने वाससी यस्याः सा । रजस्वला स्त्री 'मलवद्वासाः (मैले

तद्यथा जाया पत्ये कामयमाना सुवासाः स्वमात्मानं विवृणुते एवं वाग् वाग्विदे स्वात्मानं विवृणुते। वाङ्नो विवृणुयादात्मानमित्यध्येयं व्याकरणम्। उत त्वः॥

सक्तुमिव। "सक्तुमिव तितउना पुनन्तो यत्र धीरा मनसा वाचमक्रत। अत्रा सखायः सख्यानि जानते। भद्रैषां लक्ष्मीर्निहिताऽधिवाचि॥ सक्तुः सचतेर्दुर्धावो भवति। कसतेर्वा विपरीताद् विकसितो भवति। तितउ[1] परिपवनं भवति। ततवद्वा तुन्नवद्वा। धीरा ध्यानवन्तः। मनसा प्रज्ञानेन वाचमक्रत वाचमकृषत।

अत्र सखायः सन्तः सख्यानि जानते। क्व। य एष दुर्गो मार्ग एकगम्यो वाग्विषयः। के नस्ते। वैयाकरणाः। कुत एतत् भद्रैषां लक्ष्मीर्नि-

---

हुई अपने पति के प्रति अपने शरीर को प्रकट करती है इसी प्रकार वाणी-वाणी को जानने वाले के प्रति अपने स्वरूप को प्रकट कर देती है। वाणी अपने स्वरूप को हमारे प्रति प्रकट करे इसलिये व्याकरण पढ़ना चाहिये। उत त्वः॥

सत्तुओं की तरह। जैसे सत्तुओं को चालनी से छानते हैं ऐसे ही जब (जिस अवस्था में) ज्ञानी लोग अपने प्रकृष्ट ज्ञान के बल वाणी का व्याकरण (विश्लेषण, प्रकृतिप्रत्यय-विभाग, शब्दापशब्द-विवेचन) करते हैं तब (उस अवस्था में) समान दर्शन वाले आपस में सायुज्य को अनुभव करते हैं। कल्याणमयी लक्ष्मी इनकी वाणी में निहित होती है। 'सक्तु' सच् धातु से निष्पन्न होता है, इसे धोना (साफ करना) कठिन होता है। हो सकता है कि 'सक्तु' कस् धातु के आद्यन्त विपर्यय करने से बना हो, खिला सा होता है (इससे धात्वर्थ की संगति होती है)। तितउ का अर्थ चालनी है। यह विस्तार वाली अथवा छिद्रों वाली होती है (इसलिये तितउ नाम हुआ)। धीर ध्यानी होते हैं। 'मनसा' का अर्थ है प्रकृष्ट ज्ञान से। 'वाचमक्रत' का अर्थ है वाणी को व्याकृत किया। उत त्वः॥

यहाँ समानख्याति (समान दर्शन) वाले होकर सायुज्य को अनुभव करते हैं।

कहाँ ?

यह जो एक मात्र गम्य (साँकरा) दुर्गम वाणी का मार्ग है (वहाँ)।

वे कौन हैं ?

कपड़ों वाली स्नान न करने से) होता है, इसिलिये उसे 'मलिनी' भी कहते हैं। स्नान करने पर वह शुभ्र वस्त्र पहन लेती है, इसलिये उसे यहाँ 'सुवासाः' कहा है।

१. अमर कोष में तितउ पुँल्लिङ्ग पढ़ा है। भाष्यकार वचन प्रामाण्य से नपुंसक लिङ्ग भी साधु है।

हिता अधिवाचि। एषां वाचि भद्रा लक्ष्मीर्निहिता भवति। लक्ष्मीर्लक्षणात् भासनात्परिवृढा भवति। सक्तुमिव ॥

सारस्वतीम्। याज्ञिकाः पठन्ति "आहिताग्निरपशब्दं प्रयुज्य प्रायश्चित्तीयां सारस्वतीमिष्टिं निर्वपेत्।" प्रायश्चित्तीया मा भूमेत्यध्येयं व्याकरणम्। सारस्वतीम् ॥

दशम्यां पुत्रस्य। याज्ञिकाः पठन्ति—"दशम्युत्तरकालं पुत्रस्य जातस्य नाम विदध्याद् घोषवदाद्यन्तरन्तःस्थमवृद्धं त्रिपुरुषानूकमनरि प्रतिष्ठितम्।" तद्धि प्रतिष्ठिततमं भवति। द्व्यक्षरं चतुरक्षरं वा नाम कृतं कुर्यान्न तद्धितम् इति। न चान्तरेण व्याकरणं कृतस्तद्धिता वा शक्या विज्ञातुम्। दशम्यां पुत्रस्य ॥

सुदेवो असि। "सुदेवो असि वरुण यस्य ते सप्त सिन्धवः। अनुक्षरन्ति काकुदं सूर्म्यं सुषिरामिव ॥" सुदेवो असि वरुण सत्यदेवोऽसि। यस्य ते सप्त सिन्धवः सप्त विभक्तयः। अनुक्षरन्ति काकुदम्। काकुदं

वैयाकरण।

यह क्यों ?

क्योंकि इनकी वाणी में कल्याणमयी लक्ष्मी निहित होती है। लक्ष्मी को इसलिये लक्ष्मी कहते हैं क्यों कि वह लक्षण करती है, चमकती है। अथवा अधिकार वाली होती है।

सरस्वती देवता को दिये जानेवाली। यजुर्वेदी लोग पढ़ते हैं—अग्न्याधान करके अपशब्द का प्रयोग कर बैठनेपर प्रायश्चित्त के निमित्त सरस्वती देवता के लिए इष्टि–याग करे। हम प्रायश्चित्त के योग्य न हों इसलिये हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये। सारस्वतीम् ॥

दशमी रात्रि के अनन्तर पुत्र का। याज्ञिक लोग पढ़ते हैं—पुत्र के जन्म से दशमी रातके बीतने पर (अर्थात् ग्यारहवें दिन) उत्पन्न हुए पुत्र का नाम रखे, जो आदि में घोषवत् वर्णवाला हो, बीच में अन्तःस्थ वर्णवाला हो और वृद्धि स्वर (आ, ऐ, औ) से युक्त न हो, जो पिता के तीन पूर्व पुरुषों के नाम का स्मरण कराता हो और जो शत्रु के नाम के रूप में प्रसिद्ध न हो। नाम दो अक्षर वाला अथवा चार अक्षर वाला रखे, वह कृदन्त हो, तद्धितान्त न हो। व्याकरण के विना कृत् वा तद्धित प्रत्ययों का ज्ञान ही नहीं हो सकता है। दशम्यां पुत्रस्य ॥

तू शोभन देव है हे वरुण तू सुदेव=सत्यदेव है जिसके गले से निकलती हुई सात नदियाँ (=सात विभक्तियां) तालु में बहती हैं। काकुद तालु होता है कारण कि काकु नाम जिह्वा है और वह उसमें उठाकर लगाई जाती है। सूर्म्यं सुषिरामिव—

तालु। काकुर्जिह्वा, सास्मिन्नुद्यत इति काकुदम्। सूर्म्यं सुषिरामिव। तद्यथा शोभनामूर्मि सुषिरामग्निरन्तः प्रविश्य दहति एवं ते सप्तसिन्धवः सप्त विभक्तयस्ताल्वनुक्षरन्ति। तेनासि सत्यदेवः। सत्यदेवाः स्यामेत्यध्येयं व्याकरणम्, सुदेवो असि॥

किं पुनरिदं व्याकरणमेवाधिजिगांसमानेभ्यः प्रयोजनमन्वाख्यायते न पुनरन्यदपि किञ्चित्। ओमित्युक्त्वा वृत्तान्तशः शमित्यादीन् शब्दान्पठन्ति। पुराकल्प एतदासीत्—संस्कारोत्तरकालं ब्राह्मणा व्याकरणं स्माधीयते। तेभ्यस्तत्तत्स्थानकरणानुप्रदानज्ञेभ्यो वैदिकाः शब्दा उपदिश्यन्ते। तदद्यत्वे न तथा।

जैसे अग्नि सुन्दर खोखली लोहे की प्रतिमाको अन्दर प्रविष्ट होकर जलाती है इसी प्रकार सात सिन्धु अर्थात् सात विभक्तियां तेरे तालु में बहती हैं। इससे तू सत्यदेव है। हम भी सत्यदेव हों, अतः हमें व्याकरण पढ़ना चाहिये। सुदेवो असि।।

क्या कारण है कि केवल व्याकरण पढ़ना चाहने वालों के लिये प्रयोजन बताये जा रहे हैं, कुछ और (वेद आदि) पढ़ने वालों के लिये नहीं? (वेद पढ़ना चाहते हुए तो) ओम् (स्वीकार करता हूँ) कहकर प्रपाठक प्रपाठक करके 'शम्' इत्यादि शब्दों को पढ़ते हैं। पुरातन युग में ऐसा था उपनयन संस्कार के पश्चात् ब्राह्मण व्याकरण पढ़ना प्रारंभ कर देते थे, तब जब वे वर्णोच्चारण-स्थान (कण्ठादि) करण (जिह्वा के अग्र, उपाग्र आदि भाग) और अनुप्रदान (आभ्यन्तर व बाह्य प्रयत्न = संवृत विवृत संवार विवार आदि) जान लेते थे तो उन्हें वैदिक शब्दों का उपदेश किया जाता था। आजकल वैसा नहीं। (आजकल तो) पहले वेद को पढ़ते हैं और

---

१. ओम् यहाँ स्वीकार अर्थ में है, अभ्यादान अर्थ में नहीं। 'अधीष्व' (पढ़ो) के उत्तर में शिष्य 'ओम्' का उच्चारण करता है, स्वीकार करता हूँ, अर्थात् जैसे आपकी आज्ञा वैसे करता हूँ।

२. वृत्तान्तशः में 'शः' प्रत्यय 'वीप्सा' अर्थ में है वृत्तान्त का यहाँ 'प्रपाठक' अर्थ है।

३. ब्राह्मण बालक का उपनयन आठवें अथवा गर्भ से आठवें वर्ष में करने की विधि है। ऐसी छोटी अवस्था में जब व्याकरणाध्ययन प्रारम्भ हो जाता था तो अनतिप्रौढ होने से उन बालकों को व्याकरणाध्ययन के प्रयोजन विषय में जिज्ञासा नहीं होती थी, तो उस समय प्रयोजनान्वाख्यान भी नहीं होता था। पर अब वेदाध्ययन पहले ही प्रारम्भ हो जाता है। वेदाध्ययन को समाप्त कर प्रौढावस्था को प्राप्त हुए ब्रह्मचारी यह शङ्का करने लगते हैं, लोक तथा वेद से हमने उभयविध शब्द—लौकिक व वैदिक जान लिये, अब व्याकरण का हमें कुछ प्रयोजन नहीं रहा।

वेदमधीत्य त्वरिता[1] वक्तारो भवन्ति—'वेदान्नो वैदिकाः शब्दाः सिद्धा, लोकाच्च लौकिकाः ।' अनर्थकं व्याकरणमिति । तेभ्य एवं विप्रतिपन्नबुद्धिभ्योऽध्येतृभ्यः सुहृद्भूत्वा आचार्य इदं शास्त्रमन्वाचष्टे । इमानि प्रयोजनान्यध्येयं व्याकरणमिति ।

उक्तः शब्दः । स्वरूपमप्युक्तम् । प्रयोजनान्यप्युक्तानि । शब्दानुशासनमिदानीं कर्तव्यम् । तत्कथं कर्तव्यम् । किं शब्दोपदेशः कर्तव्य आहोस्विदपशब्दोपदेश आहोस्विदुभयोपदेश इति । अन्यतरोपदेशेन कृतं स्यात् । तद्यथा भक्ष्यनियमे[2] नाभक्ष्यप्रतिषेधो गम्यते । पञ्चनखा भक्ष्या इत्युक्ते गम्यत एतदतो-

---

पढ़कर उतावले हुए एक दम कहने लग जाते हैं—वेद से हमने वैदिक शब्द जान लिये, और लोक से लौकिक । व्याकरण का (हमें) कुछ प्रयोजन नहीं । उन विपरीत बुद्धिवाले छात्रों का सुहृद् बनकर आचार्य (पतञ्जलि, 'रक्षोहागमलघ्वसन्देहाः प्रयोजनम्' को वार्तिक मानने वालों के मत में कात्यायन) इस शास्त्र (प्रयोजन निर्देशक) का अन्वाख्यान करते है और कहते हैं यह प्रयोजन हैं, व्याकरण पढ़ना चाहिये ।

शब्द से क्या ग्राह्य है यह कह दिया । शब्द का स्वरूप भी कह दिया गया । प्रयोजन भी कह दिये । अब शब्दानुशासन करना चाहिये । सो कैसे किया जाय ? क्या शब्दों का उपदेश करना चाहिये, अथवा अपशब्दों का, अथवा दोनों का ? किसी एक के उपदेश से काम चल जायगा । जैसे भक्ष्य का नियम करने से अभक्ष्य का निषेध स्वतः ही आ जाता है । पाँच नखों वाले पांच ही भक्ष्य हैं ऐसा कहने से गिनाये हुए पांच नखों वाले पांचों से अतिरिक्त पांच नख वाले अभक्ष्य हैं, ऐसा बिना

---

१. त्वरिताः = जातत्वराः । गृहप्रवेशाय त्वरमाणाः, विवाह करके गृहस्थ बनने के लिये उतावले—ऐसा प्रदीपकार कैयट का भाव है । भाष्यकार को यह विवक्षित है वा नहीं इसमें सन्देह है ।

२. नियम शब्द यहाँ परिसङ्ख्या अर्थ में प्रयुक्त हुआ है । मीमांसक विधि नियम और परिसङ्ख्या का इस प्रकार लक्षण करते हैं—

विधिरत्यन्तमप्राप्तौ नियमः पाक्षिके सति ।
तत्र चान्यत्र च प्राप्तौ परिसङ्ख्येति गीयते ॥

अपूर्व अत्यन्त अविदित क्रिया का जब विधान किया जाता है तब उसे 'विधि' अथवा 'अपूर्व विधि' कहते हैं जैसे व्रीहीन्प्रोक्षति (धान पर जल छिड़कता है) । यह वचन इदम्प्रथमतया (इससे पहले कोई दूसरा नहीं) बतलाता है कि दर्शपूर्णमास इष्टियों में व्रीहि का प्रोक्षण किया जाना चाहिये । यह व्रीहि का संस्कारक होकर यज्ञाङ्ग है । इसका अनुष्ठान न हो तो यज्ञ विकलाङ्ग होगा । प्रकृत वचन न होता तो इसका हमें कैसे पता चलता ? जो क्रिया कई प्रकार से

न्येऽभक्ष्या इति। अभक्ष्यप्रतिषेधेन वा भक्ष्यनियमः। तद्यथा अभक्ष्यो ग्राम्य-कुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्यसूकर इत्युक्ते गम्यत एतद्—आरण्यो भक्ष्य इति। एवमिहापि। यदि तावच्छब्दोपदेशः क्रियते, गौरित्येतस्मिन्नुपदिष्टे गम्यत एतद् गाव्यादयोऽपशब्दा इति। अथाप्यपशब्दोपदेशः क्रियते, गाव्यादिषूपदिष्टेषु गम्यत एतद्—गौरित्येष शब्द इति।

कहे ही प्रतीत होता है।

अथवा अभक्ष्य का निषेध करने से भक्ष्य का नियम हो जाता है जैसे गाँव का कुक्कुट अभक्ष्य है, गाँव का सूअर अभक्ष्य है ऐसा कहने से जंगल का भक्ष्य है ऐसा (बिना कहे ही) प्रतीत हो जाता है। इसी प्रकार यहाँ भी। यदि शब्दों का उपदेश किया जाय, 'गौः' ऐसा उपदेश करने पर यह (स्वयं) जाना जाता है कि गावी आदि अपशब्द हैं। और यदि अपशब्दों का उपदेश किया जाय, तो गावी आदि का उपदेश किये जाने पर यह (अपने आप) जाना जाता है कि 'गो' शब्द है।

(क्रम से) सम्पादन की जा सकती हो वहाँ एकका नियम कर देना नियम अथवा नियमविधि कहलाती है। अब यज्ञार्थ चावल (व्रीहि) को वितुष (तुष रहित) करनी इष्ट है। वितुष करना कई एक क्रियाओं द्वारा (अनेक क्रियाओं द्वारा सम्पन्न होने का योग्यता होने पर एक समय किसी एक से) सम्भव है जैसे अवहनन अथवा अवघात (उलूखल में मूसल से कूटने) से, मर्दन (मसलने) से अथवा नखविदलन (नाखूनों से छीलने) से। यहाँ शास्त्र नियम करता है व्रीहीनवहन्ति, चावलों का अवघात (ही) करे। परिसङ्ख्या वह विधि है जो अपूर्व विधान तो कुछ नहीं करती, जिसके न करने से प्रत्यवाय हो, पर एक ही समय में सम्भव, पहले से विदित, दो वा दो से अधिक क्रियाओं में से एक का नियम कर देती है। पञ्च पञ्चनखा भक्ष्याः। यह परिसङ्ख्या है। यहाँ पांच पांच नखोंवाले शशक आदि का भक्षण का विधान नहीं किया गया। क्षुधा की निवृत्ति के लिये यत् किंचित् शशक आदि पदार्थ का भक्षण तो प्राप्त ही (पहले से विदित ही) है। मनुष्य ने इसे शास्त्र से नहीं सीखना। अब क्षुधा के शमन के लिये वह चाहे तो एक ही समय पांच-पांच नखों वाले शशकादि को भी खा सकता है और इन पांचों से अतिरिक्त पांच नखोंवाले मनुष्य आदि को भी। अब इस प्रकार अनेक क्रियाओं की युगपत् प्राप्ति (प्रसङ्ग) होने पर शास्त्र नियम करता है पांच नखों वाले शशकादि पाँच ही भक्ष्य (खाने योग्य) हैं, अर्थात् इन पांचों से भिन्न पांच नखवाले अभक्ष्य (न खाने योग्य) हैं। परिसङ्ख्या का निषेध में तात्पर्य होता है। प्रकृत में यदि शब्दों का उपदेश किया जाय तो उनका श्रवण से साक्षात् बोध हो जायगा और तद्भिन्न अपशब्दों का निषेध साक्षात् न कहा हुआ भी गम्यमान (= प्रतीयमान) रहेगा। पांच नखोंवाले भक्ष्य ये हैं—शशकः शल्यकी गोधा खड्गी कूर्मश्च पञ्चमः—खरगोश, सेहा, गोह, गेण्डा और कछुआ।

किं पुनरत्र ज्यायः। लघुत्वाच्छब्दोपदेशः। लघीयाञ्छब्दोपदेशः। गरीयानपशब्दोपदेशः। एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः। तद्यथा गौरित्यस्य शब्दस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः। इष्टान्वाख्यानं खल्वपि भवति।

अथैतस्मिञ्शब्दोपदेशे सति किं शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः कर्तव्यः, गौरश्वः पुरुषो हस्ती शकुनिर्मृगो ब्राह्मण इत्येवमादयः शब्दाः पठितव्याः। नेत्याह। अनभ्युपाय एष शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः। एवं हि श्रूयते—बृहस्पतिरिन्द्राय दिव्यं[1] वर्षसहस्रं प्रतिपदोक्तानां शब्दानां शब्दपारायणं[2] प्रोवाच[3] नान्तं जगाम। बृहस्पतिश्च प्रवक्ता, इन्द्रश्चाध्येता, दिव्यं वर्षसहस्रमध्ययनकालो न चान्तं जगाम किं पुनरद्यत्वे। यः सर्वथा चिरं जीवति वर्षशतं

तो इन दो उपायों में से बढ़िया उपाय कौन सा है ?

लघु होने से शब्दोपदेश। शब्दों का उपदेश दूसरे की अपेक्षा छोटा है, अपशब्दों का उपदेश गौरवयुक्त है। एक-एक शब्द के अनेक अपभ्रंश (विकृत=संस्काररहित रूप) होते हैं। जैसे 'गौः' इस एक शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश होते हैं। (साधु शब्द के प्रयोग में धर्म होता है इस कारण) इष्टप्राप्तिजनक शब्दों का भी इस प्रकार अन्वाख्यान=अनुशासन हो जाता है।

अब शब्दों का उपदेश होना चाहिये ऐसी व्यवस्था होने पर प्रश्न यह है कि शब्दों के बोध के लिये एक-एक करके शब्द पढ़े जायँ जैसे गौः, अश्वः, पुरुषः, हस्ती, शकुनिः, मृगः, ब्राह्मण इत्यादि। नहीं ऐसा नहीं। शब्दों के बोध में शब्दों का एक-एक करके पढ़ देना कोई उपाय नहीं। ऐसा सुनते हैं—(देवगुरु) बृहस्पति ने एक हज़ार दिव्य वर्षों तक इन्द्र को प्रतिपदोक्त शब्द-पारायण पढ़ाया, पर समाप्ति तक न पहुँचे। बृहस्पति जैसा पढ़ाने वाला (आचार्य) हो, और इन्द्र जैसा पढ़नेवाला शिष्य हो, तिस पर भी एक हज़ार दिव्य वर्ष (लम्बा) पढ़ने का समय, तो भी समाप्ति न हो सकी, आज कल का तो कहना ही क्या। जो बहुत चिर तक जीता है वह सौ बरस जीता है।

---

१. मानुष वर्ष (=३६५ दिन) दिव्य (देवताओं का) एक दिन रात के बराबर है।

२. 'शब्द पारायण' शब्द योगरूढ होकर ग्रन्थविशेष का नाम है ऐसा कैयट का कथन है। 'प्रतिपदोक्तानाम्' इस विशेषण को देने के लिये फिर 'शब्दानाम्' यह विशेष्य पढ़ा है, यह भास रही पुनरुक्ति को निवारण करने के निमित्त यत्न मात्र है। वस्तुतः यह वैदिक काल से चली आ रही एक शैली थी—जैसे "विद्मा हि त्वा गोपतिं शूर गोनाम् (ऋ० १०।४७।१)।" इत्यादि अनेक स्थलों में देखी जाती है।

३. प्र पूर्वक ब्रू (वच्) का मुख्यार्थ पढ़ाना है—स्वाध्यायप्रवचनाभ्यां मा प्रमदः।

जीवति। चतुर्भिश्च प्रकारैर्विद्योपयुक्ता भवति—आगमकालेन[1], स्वाध्यायकालेन, प्रवचनकालेन, व्यवहारकालेनेति। तत्र चास्यागमकालेनैवायुः कृत्स्नं पर्युपयुक्तं स्यात्। तस्मादनभ्युपायः शब्दानां प्रतिपत्तौ प्रतिपदपाठः।

कथं तर्हीमे शब्दाः प्रतिपत्तव्याः। किंचित्सामान्यविशेषवल्लक्षणं प्रवर्त्यम्। येनाल्पेन यत्नेन महतो महतः शब्दौघान्प्रतिपद्येरन्। किं पुनस्तत्। उत्सर्गापवादौ। कश्चिदुत्सर्गः कर्तव्यः, कश्चिदपवादः। कथंजातीयकः पुनरुत्सर्गः कर्तव्यः कथंजातीयकोऽपवादः। सामान्येनोत्सर्गः कर्तव्यः। तद्यथा कर्मण्यण्[2]। तस्य विशेषेणापवादः। तद्यथा—आतोऽनुपसर्गे कः[3]।

किं पुनराकृतिः पदार्थ आहोस्विद् द्रव्यम्[4]। उभयमित्याह। कथं

चार प्रकार से विद्या का उपयोग होता है—गुरु से पढ़ते समय, स्वयं गुरुमुख से अधीत की आवृत्ति करते समय, (शिष्यों को) पढ़ाते समय और यज्ञादि कर्म में व्यवहार (प्रयोग) के समय। उस (प्रतिपद-पाठ की अवस्था में इस (विद्यार्थी) की सारी आयु गुरु से पढ़ते-पढ़ते ही समाप्त हो जायगी। अतः शब्दों के बोध के लिये प्रतिपद पाठ कोई उपाय नहीं।

तो शब्दों को कैसे जाना जाय?

कोई छोटा सा सामान्य-विशेषवाला शास्त्र बनाना चाहिये जिससे थोड़े से यत्न से बड़ी-बड़ी शब्द-राशियों को जान जायं।

ऐसे (शास्त्र) लक्षण का क्या स्वरूप है?

उत्सर्ग और अपवाद। कोई लक्षण उत्सर्गात्मक होगा, कोई अपवादात्मक।

उत्सर्ग का कैसा स्वरूप होता है। अपवाद का कैसा स्वरूप होता है?

सामान्यरूप से कथन उत्सर्ग होता है जैसे कर्मण्यण्, कर्मकारक (मात्र) उपपद होने पर धातु मात्र से 'अण्' प्रत्यय हो। उस उत्सर्ग का विशेष कथन से अपवाद, जैसे 'आतोऽनुपसर्गे कः' कर्म कारक (मात्र) उपपद होनेपर उपसर्ग-रहित आकारान्त धातु से 'क' प्रत्यय हो।

क्या पद का अर्थ—जाति है अथवा द्रव्य?

वैयाकरण कहता है—दोनों (जाति और द्रव्य)।

---

१. आगमकालेन इत्यादि में आधार में करणत्व की विवक्षा करके तृतीया प्रयुक्त हुई है ऐसा नागेश का मत है। हमारा विचार है कि यहाँ उपलक्षण में तृतीया है, आगमकालेनोपलक्षिता विद्योपयुक्ता उपयोगवती भवति।

२. पा० ३।२।१॥

३. पा० ३।२।३॥

४. व्याकरण शास्त्र में किसी एक पक्ष से सर्वत्र व्यवस्था न हो सकने से कहीं

ज्ञायते। उभयथा ह्याचार्य्येण सूत्राणि पठितानि। आकृतिं पदार्थं मत्वा जात्याख्यायामेकस्मिन्बहुवचनमन्यतरस्याम् इत्युच्यते। द्रव्यं पदार्थं मत्वा सरूपाणाम् इत्येकशेष आरभ्यते।

किं पुनर्नित्यः शब्द आहोस्वित्कार्यः। सङ्ग्रह एतत्प्राधान्येन परीक्षितम्—नित्यो वा स्यात्कार्यो वेति। तत्रोक्ता दोषाः, प्रयोजनान्यप्युक्तानि। तत्र त्वेष निर्णयः—यद्येव नित्यः, अथापि कार्यः, उभयथापि[1] लक्षणं प्रवर्त्यमिति।

(यह) कैसे जाना जाय?

दोनों अर्थों को स्वीकार कर आचार्य पाणिनि ने सूत्र पढ़े हैं।

पद का अर्थ जाति है ऐसा मानकर 'जात्याख्यायाम्—' इत्यादि सूत्र पढ़ा है द्रव्य पदार्थ है ऐसा स्वीकार कर 'सरूपाणाम्' इत्यादि से एक शेष आरम्भ किया है।

क्या शब्द नित्य है अथवा कार्य (अनित्य)?

'संग्रह' ग्रन्थ में इसपर मुख्य रूप से विचार किया गया है कि शब्द नित्य है वा अनित्य। यहाँ दोनों पक्षों में प्रसक्त दोष कह दिये हैं। शास्त्र की प्रवृत्ति के प्रयोजन भी कह दिये हैं। वहाँ यही निर्णीत किया गया है, चाहे नित्य हो चाहे अनित्य, दोनों पक्षों में शास्त्रारम्भ होना ही चाहिये।

जाति को पदार्थ माना है और कहीं व्यक्ति (द्रव्य) को। यदि एक ही पक्ष का सर्वत्र आश्रयण हो, व्यक्ति ही पदार्थ है ऐसा सर्वत्र इष्ट हो तो 'सम्पन्ना व्रीहयः' यहाँ व्यक्तियों (धान्य के कणों) का बहुत्व होने से बहुवचन सिद्ध है (साध्य नहीं) अतः उसके लिये 'जात्याख्यायाम्—' इत्यादि बहुवचन-विधान-रूप यत्न सूत्रकार क्यों करे। और यदि जाति ही पदार्थ है ऐसा मत अभिमत हो तो जाति नाम एकार्थ होता है, उसे कहने के लिये एक शब्द का ही प्रयोग प्राप्त होता है, उसी से तज्जात्यवच्छिन्न सकल व्यक्तियों की उपस्थिति हो जायगी, अतः अनेक व्यक्तियों को कहने के लिये अनेक शब्दों के प्रयोग का प्रसङ्ग ही नहीं, तो फिर 'सरूपाणाम्—' यह एक शेष (समानरूप वाले शब्दों में से एक रहे, अन्य निवृत्त हो जायं एक विभक्ति परे होने पर) ऐसा योग-निर्माण करने का यत्न क्यों किया। इससे प्रतीत होता है कि यहाँ आचार्य पाणिनि व्यक्ति पदार्थ है ऐसा मान रहे हैं। यहाँ इतना विशेष जान लेना चाहिये कि जहाँ जाति पदार्थ होता है वहाँ जाति में क्रिया का अन्वय न हो सकने से जात्याश्रय (जाति के अधिष्ठानभूत) व्यक्ति का जाति द्वारा बोध होता है। ब्राह्मणो न हन्तव्यः। यहाँ ब्राह्मण शब्द जातिवाचक है, हनन क्रिया 'ब्राह्मणत्व' जाति में संभवी नहीं, उसका व्यक्ति में ही अन्वय हो सकता है। जहाँ व्यक्तिपरक निर्देश है—इमा गावः सुदोहाः, वहाँ जाति का उपलक्षक के रूप में बोध होता है। गावः=गोत्वोपलक्षिता=गोत्वावच्छिन्ना गोव्यक्तयः=सास्नादिमन्तः पदार्थाः।

१. दोनों अवस्थाओं में दोषों का निराकरण किया जा सकता है। इस हेतु से।

कथं पुनरिदं भगवतः पाणिनेराचार्यस्य लक्षणं प्रवृत्तम्[1]—

सिद्धे शब्दार्थसम्बन्धे[2] १-१

सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।

अथ सिद्धशब्दस्य कः पदार्थः। नित्यपर्यायवाची सिद्धशब्दः। कथं ज्ञायते। यत्कूट[3]स्थेष्वविचालिषु[4] भावेषु वर्तते। तद्यथा—सिद्धा द्यौः, सिद्धा पृथिवी, सिद्धमाकाशमिति। ननु च भोः कार्येष्वपि वर्तते तद्यथा—सिद्ध ओदनः, सिद्धः सूपः, सिद्धा यवागूरिति। यावता कार्येष्वपि वर्तते, तत्र कुत एतन्नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणं न पुनः कार्ये यः सिद्धशब्द इति।

तो किस अभिप्राय को लेकर भगवान् आचार्य पाणिनि का शास्त्र प्रवृत्त हुआ है? (उत्तर)—

(वा०) शब्द, अर्थ और उनके सम्बन्ध के सिद्ध रहते हुए।

अब यहाँ सिद्ध शब्द का क्या अर्थ है?

सिद्ध शब्द नित्य का समानार्थक है।

यह कैसे जाना जाय?

क्योंकि यह एक स्वरूप-स्थित (अविनाशी), एकत्र नित्यावस्थित पदार्थों को कहने में प्रयुक्त होता है। जैसे द्युलोक सिद्ध है, पृथिवी सिद्ध है, आकाश सिद्ध है।

क्यों जी, (सिद्ध शब्द) कृत्रिम (क्रिया से बने) पदार्थों को कहने में भी तो प्रयुक्त होता है। जैसे—भात (सिद्ध) बना है, दाल (सिद्ध) बनी है, यवागू (पतला भात) (सिद्ध) बनी है। चूंकि यह सिद्ध होने वाले अर्थों को कहने में भी प्रयुक्त होता है तो यहाँ नित्य-समानार्थक का ग्रहण है न कि उस सिद्ध शब्द का जो सिद्ध होने वाले (क्रियानिष्पाद्य=कार्य) अर्थ में प्रयुक्त होता हैं' यह कैसे जाना जाय?

---

१. किस अभिप्राय को लेकर, अर्थात् शब्द अर्थ और इनका सम्बन्ध इनकी सिद्धि को मानकर अथवा असिद्धि को। प्रश्न का तात्पर्य यह है कि यदि शब्द अर्थ और सम्बन्ध लोकसिद्ध हैं तो शास्त्रारम्भ व्यर्थ है और यदि ये असिद्ध हैं तो शास्त्रारम्भ शक्य ही नहीं। अर्थात् सर्वथा शास्त्र अनारम्भणीय ही ठहरता है।

२. यह समाहार द्वन्द्व है—शब्दश्च, अर्थश्च, सम्बन्धश्चेति शब्दार्थसम्बन्धम्, तस्मिन् शब्दार्थसम्बन्धे। तीनों का त्रिकालाऽबाधित (नित्य) अवियोग दिखाने के लिये समाहार द्वन्द्व का आश्रयण किया है।

३. कूटमयोघनः तद्वद् ये तिष्ठन्ति। अयो हन्यतेऽस्मिन्निति अयोघनः, वह लोह संघात (निहाई) जिसपर लोहे को कूटा जाता है।

४. विचालः स्थानान्तरसङ्क्रमः, दूसरे स्थान में जाना 'विचाल' कहलाता है। दूसरी जगह अष्टाध्यायी में 'रूपान्तरापत्तिर्विचालः' रूप का बदलना 'विचाल' का अर्थ अभीष्ट है (काशिका ५।३।४३)।

संग्रहे तावत् कार्यप्रतिद्वन्द्विभावान्मन्यामहे नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति । इहापि तदेव ।

अथवा सन्त्येकपदान्य[1]प्यवधारणानि । तद्यथा--अब्भक्षो वायुभक्ष इति—अप एव भक्षयति, वायुमेव भक्षयतीति गम्यते । एवमिहापि । सिद्ध एव न साध्य इति ।

अथवा पूर्वपदलोपोऽत्र द्रष्टव्यः । अत्यन्त[2] सिद्धः सिद्ध इति । तद्यथा —देवदत्तो दत्तः, सत्यभामा भामेति ।

अथवा व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् इति नित्यपर्यायवाचिनो ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः ।

किं पुनरनेन वर्ण्येन[3] । किं न महता कण्ठेन नित्यशब्द एवोपात्तः, यस्मिन्नुपादीयमानेऽसन्देहः स्यात् । मङ्गलार्थम् । माङ्गलिक आचार्यो महतः

संग्रह ग्रन्थ में 'सिद्ध' शब्द 'कार्य' शब्द के विरोधी रूप में प्रयुक्त होने से हम समझते हैं कि वहाँ 'नित्य' अर्थवाले का ग्रहण है । यहाँ भी वैसा ही ।

अथवा एक (इकेले) पद से अवधारण (नियम) देखा जाता है । जैसे—अब्भक्षः—पानी ही पीता है, वायुभक्षः, वायु ही खाता है--ऐसा बोध होता है । इसी प्रकार यहाँ भी । (जो) सिद्ध ही है साध्य (कभी) नहीं, ऐसा अर्थ जाना जाता है ।

अथवा यहाँ पूर्वपद का लोप समझना चाहिये । अत्यन्त सिद्ध को ही सिद्ध कह दिया है । जैसे देवदत्त को दत्त, सत्यभामा को भामा (कह देते हैं) ।

अथवा व्याख्यान (स्पष्टीकरण) से विशेष बोध हो जाता है, सन्देह मात्र से लक्षण अलक्षण नहीं बन जाता इस कथन के अनुसार यहाँ नित्यपर्यायवाची सिद्ध शब्द का ग्रहण है ऐसा व्याख्यान करेंगे ।

तो फिर इस यत्न से व्याख्येय ('सिद्ध') शब्द से क्या लाभ ? गला खोल कर 'नित्य' शब्द ही क्यों नहीं पढ़ा, जिसके उपादान से सन्देह ही न रहता ?

---

१. एकं पदं यस्यावधारणस्य तदेकपदम् (बहुव्रीहि) । 'एव' शब्द का प्रयोग होने पर द्विपद अवधारण (नियम) होता है । 'एव' वहाँ द्योतक होता है । द्योतक के बिना भी अर्थसङ्गतिवश जब नियम का बोध हो जाता है तब 'एकपद अवधारण' कहलाता है ।

२. अत्यन्तं कालापरिच्छेदेन सिद्धः=अत्यन्तसिद्धः, अर्थात् सभी कालों में सिद्ध ।

३. वर्ण्य=व्याख्या योग्य, यत्न से व्याख्येय । शक्यार्थ में कृत्य प्रत्यय । यत्नेन वर्णयितुं शक्यं वर्ण्यम् । व्याख्या-गम्यम् ।

शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं सिद्धशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषाणि च भवन्ति, आयुष्मत्पुरुषाणि चाध्येतारश्च सिद्धार्था यथा स्युरिति।

अयं खलु नित्यशब्दो नावश्यं कूटस्थेष्वविचालिषु भावेषु वर्तते। किं तर्हि। आभीक्ष्ण्येपि वर्तते। तद्यथा—नित्यप्रहसितो[1] नित्यप्रजल्पित इति। यावताभीक्ष्ण्येपि वर्तते तत्राप्यनेनैवार्थः स्यात् व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्ति-र्न हि सन्देहादलक्षणम् इति। पश्यति त्वाचार्यो मङ्गलार्थश्चैव सिद्धशब्द आदितः[2] प्रयुक्तो भविष्यति, शक्ष्यामि चैनं नित्यपर्यायवाचिनं वर्णयितु-मिति। अतः सिद्ध शब्द एवोपात्तो न नित्यशब्दः।

अथ कं[3] पुनः पदार्थं मत्वा एष विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे

मङ्गल के लिये। मङ्गल (अतिन्दित अभीष्ट अर्थ की सिद्धि) चाहता हुआ आचार्य बड़े भारी शास्त्र-समुदाय (=वार्तिक समूह) के मङ्गल के लिये आदि में सिद्ध शब्द का प्रयोग करता है, क्योंकि आदि में मङ्गल वाले शास्त्र प्रचरित होते हैं, इनके जानने वाले वीर (वाद में विजेता) और दीर्घायुवाले होते हैं और पढ़ने वाले कृतार्थ होते हैं।

यह 'नित्य' शब्द भी एक-रूप अविनाशी तथा एकत्रावस्थित पदार्थों को ही कहता हो ऐसा कोई नियम नहीं। तो क्या? आवृत्ति (अभ्यास) अर्थ में भी आता है। जैसे—नित्य (=बार बार) हँसता रहता है, नित्य बोलता रहता है। जब कि यह अभ्यास अर्थ में भी आता है तो वहाँ भी इसीसे निर्वाह हो जायगा (इसीसे काम लेना होगा)—व्याख्यान से विशेष बोध हो जाता है, सन्देह मात्र से लक्षण अलक्षण नहीं हो जाता। पर आचार्य देखते हैं, आदि में प्रयुक्त हुआ सिद्ध शब्द मङ्गल के लिये रहेगा और (साथ ही) मैं इसे नित्य का पर्यायवाची भी बतला सकूंगा। अतः 'सिद्ध' शब्द ही पढ़ा है, 'नित्य' नहीं।

अब प्रश्न होता है—किसे पदार्थ मानकर यह विग्रह किया जाता है—शब्द,

---

१. नित्यं हसितुमारब्धः=प्रशब्द आदि कर्मणि। कर्तरि क्तः।

२. आदितः=आदौ। आद्यादित्वात् तसिः। 'आद्यादिभ्य उपसंख्यानम्' से यहाँ सब विभक्तियों के अर्थ में 'तसि' प्रत्यय होता है।

३. जब यह निश्चित हो चुका कि वार्तिक में 'सिद्ध' शब्द नित्य का पर्यायवाची है तो प्रश्न होता है कि 'शब्दार्थसम्बन्धे' इसका जो 'शब्देऽर्थे सम्बन्धे च' ऐसा विग्रह किया गया है सो किसे पदार्थ मान कर किया गया है—जाति (और आकृति) अथवा द्रव्य। प्रश्नकर्ता जाति की सिद्धता (नित्यता) को तो समझ सकता है पर उसे आकृति और द्रव्य की नित्यता खटकती है, उसे स्वीकार करने में संकोच है।

चेति। आकृतिमित्याह। कुत एतत्। आकृतिर्हि नित्या द्रव्यमनित्यम्।

अथ द्रव्ये पदार्थे कथं विग्रहः कर्तव्यः। सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे चेति नित्यो ह्यर्थवतामर्थैरभिसम्बन्धः[1]।

अथवा द्रव्य एव पदार्थे एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे चेति। द्रव्यं हि नित्यमाकृतिरनित्या। कथं ज्ञायते। एवं हि दृश्यते लोके मृत्कयाचिदाकृत्या युक्ता पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य घटिकाः क्रियन्ते, घटिकाकृतिमुपमृद्य कुण्डिकाः क्रियन्ते। तथा सुवर्णं कयाचिदाकृत्या युक्तं पिण्डो भवति, पिण्डाकृतिमुपमृद्य रुचकाः क्रियन्ते, रुचकाकृतिमुपमृद्य

अर्थ और इनके सम्बन्ध के नित्य होने पर। आकृति को (पदार्थ मानकर)।

यह कैसे?

आकृति नित्या है, द्रव्य अनित्य है।

यदि द्रव्य पदार्थ हो तो कैसा विग्रह करना चाहिये।

सिद्धे शब्दे अर्थसम्बन्धे च इस प्रकार (विग्रह करना चाहिये)। क्योंकि शब्दों का अर्थों के साथ सम्बन्ध नित्य है।

अथवा द्रव्य को पदार्थ मानकर भी यह विग्रह युक्त है—सिद्धे शब्दे अर्थे सम्बन्धे च (शब्द, अर्थ, सम्बन्धों के सिद्ध होने पर)। कारण कि द्रव्य नित्य है और आकृति अनित्य है।

कैसे जानें?

ऐसा लोक में देखते हैं मिट्टी किसी एक आकृति से युक्त पिण्ड (गोला) बन जाती है, पिण्ड आकार को मिटाकर छोटे-छोटे घड़े बनाए जाते हैं, इन घड़ों की आकृति को मिटाकर कुण्डिकाएँ बनाई जाती हैं। इसी प्रकार सोना किसी एक आकृति से युक्त हुआ 'पिण्ड' बन जाता है, पिण्डाकार को मिटाकर रुचक नाम के भूषण बनाए जाते हैं. रुचकों की आकृति को मिटाकर कड़े बनाए जाते हैं, कड़ों के आकार

'शब्दार्थसम्बन्धे' इस द्वन्द्व के समीप में स्थित 'सिद्धे' इस पद का शब्द, अर्थ, सम्बन्ध—इन तीनों के साथ अन्वय होता है। द्वन्द्वादौ द्वन्द्वान्ते द्वन्द्वसमीपे च श्रूयमाणं पदं प्रत्येकमभिसम्बध्यते— ऐसा न्याय है।

१. यहाँ द्रव्य के अनित्य होने से 'अर्थ' को 'सम्बन्ध' का विशेषण बना दिया गया है। पर फिर यह प्रश्न उपस्थित होता है कि अनित्य अर्थों के साथ शब्दों का सम्बन्ध नित्य कैसे हो सकता है? वह इस तरह से है कि शब्द में अर्थबोधन की योग्यता सहज है। यही योग्यता शब्द का अर्थ के साथ तादात्म्य सम्बन्ध है। वह अर्थ के अनित्य होते हुए भी अनित्य नहीं हो जाता। नष्ट और भावी वस्तु का भी शब्द से बोध होने से बौद्ध (आन्तर, सूक्ष्म, वासना रूप से स्थित) अर्थ के साथ नित्य सम्बन्ध बना रहता है।

कटकाः क्रियन्ते, कटकाकृतिमुपमृद्य स्वस्तिकाः क्रियन्ते। पुनरावृत्तः[1] सुवर्णपिण्डः पुनरपरयाऽऽकृत्या युक्तः खदिराङ्गारसवर्णे कुण्डले[2] भवतः। आकृतिरन्या चान्या च भवति, द्रव्यं पुनस्तदेव। आकृत्युपमर्देन द्रव्यमेवावशिष्यते।

आकृतावपि पदार्थ एष विग्रहो न्याय्यः—सिद्धे अर्थे सम्बन्धे चेति। ननु चोक्तम्—आकृतिरनित्येति। नैतदस्ति। नित्याऽऽकृतिः। कथम्। न क्वचिदुपरतेति कृत्वा सर्वत्रोपरता भवति। द्रव्यान्तरस्था तूपलभ्यते।

अथवा नेदमेव नित्यलक्षणम्—ध्रुवं कूटस्थमविचाल्यनपायोपजनविकार्यनुत्पत्त्यवृद्ध्यव्यययोगि यत्तन्नित्यम् इति। तदपि नित्यं यस्मिंस्तत्त्वं न विहन्यते।

को मिटाकर स्वस्तिक बनाए जाते हैं। गलाया हुआ फिर सुवर्ण पिण्ड बना हुआ सोना फिर किसी दूसरी आकृति से युक्त होकर खैर के (धधकते हुए) कोयले के समान दो कुण्डलों के रूप में परिणत हो जाता है। आकृति (बदलकर) और होती जाती है, द्रव्य वैसे का वैसा रहता है। आकृति-विशेष के नाश होने पर 'द्रव्य' ही बचा रहता है।

आकृति (जाति) को भी पदार्थ मानकर यह विग्रह युक्त है—सिद्धे अर्थे सम्बन्धे च।

अजी अभी कहा था—आकृति अनित्य है। ऐसा नहीं। आकृति नित्य (ही) है।

कैसे?

किसी एक द्रव्य में अनभिव्यक्त (अनुद्भूत=अप्रत्यक्ष) होने से सभी द्रव्यों में अनभिव्यक्त रहे ऐसा नहीं, दूसरे द्रव्य में तो इसकी उपलब्धि होती ही है।

अथवा कोई यही नित्य का लक्षण नहीं—जो ध्रुव (=कूटस्थ) एक मात्र रूप में अवस्थित (रूपान्तर-प्रतिभास-रहित), परिणाम-रहित, उपजन (=विपरिणाम)-अपचय रूप विकार-रहित, उत्पत्ति वृद्धि और क्षय-रहित हो वह नित्य होता है। वह भी नित्य होता है कि जिसके नष्ट होने पर उसमें रहनेवाला धर्म (तत्त्व) नष्ट न हो।

---

१. आवृत्तः=आवर्तितः, औटाया हुआ, गिलाया हुआ। आङ्पूर्वक वृत् (णिच्) का ऐसा अर्थ है इसमें अमरकोष का 'तैजसावर्तनी मूषा' यह पाठ प्रमाण है।

२. इस पर नागेश का वचन है—'अच्यन्ते विकृतेः कर्तृत्वं बोध्यम्'। यह बात भी प्रायिक है। इस विषय में हमारी कृति शब्दापशब्दविवेक की भूमिका में उद्देश्य-विधेय प्रकरण देखें।

३. यहाँ 'ध्रुव' शब्द का 'कूटस्थ' व्याख्यान है, अर्थान्तर नहीं। इतना कहने से संसर्गानित्यता (संसर्ग=संश्लेष, सामीप्य के कारण जो अनित्यता) का परिहार

किं पुनस्तत्त्वम्। तद्भावस्तत्त्वम्। आकृतावपि तत्त्वं न विहन्यते।

अथवा किं न एतेन--इदं नित्यमिदमनित्यमिति। यन्नित्यं तं पदार्थं मत्वैष विग्रहः क्रियते—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे चेति।

कथं पुनर्ज्ञायते—सिद्धः शब्दोऽर्थः सम्बन्धश्चेति।

लोकतः १-२

यल्लोकेऽर्थमर्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते, नैषां निर्वृत्तौ यत्नं कुर्वन्ति। ये पुनः कार्या भावा निर्वृत्तौ तावत्तेषां यत्नः क्रियते। तद्यथा—घटेन कार्यं करिष्यन्कुम्भकारकुलं गत्वाह—कुरु घटं कार्यमनेन करिष्यामीति। न तावच्छ-

---

तो तत्त्व क्या पदार्थ है?

किसी वस्तु का स्वभाव, (उसमें रहनेवाला धर्म जो उसके स्वरूप को बनाता है वह) 'तत्त्व' है। आकृति में भी तत्त्व नष्ट नहीं होता।

अथवा हमें इससे क्या—यह नित्य है, यह अनित्य है, जो भी नित्य है (आकृति हो वा द्रव्य हो) उसे पदार्थ मानकर यह विग्रह किया जाता है—सिद्धे शब्देऽर्थे सम्बन्धे च।

यह कैसे जाना जाय कि शब्द, अर्थ, सम्बन्ध—ये तीनों ही नित्य हैं?

(वा०) लोक से

क्योंकि लोक में उस-उस अर्थ को कहने के लिये शब्दों का प्रयोग करते हैं, पर इन शब्दों के निर्माण में यत्न नहीं करते। परन्तु जो पदार्थ क्रिया से निष्पन्न होते हैं उनकी निष्पत्ति (सिद्धि) के निमित्त यत्न किया जाता है। जैसे—घड़े से काम लेना चाहता हुआ कुम्हार के घर जाकर कहता है—घड़ा बनाइये, मैं इससे काम लूँगा।

किया है। जैसे स्फटिक (बिलौर) के पास लाक्षा आदि के पड़े होने से उसका अपना स्वरूप तिरोहित हो जाता है और लाक्षा का रूप (लौहित्य=लाली) उसमें प्रतिभासित होने लगता है। ज्यों ही लाक्षाको परे हटाओ यह लौहित्य-प्रतिभास भी हट जाता है। 'विचाल' कहते हैं रूपान्तरोत्पत्ति को, जो परिणाम कहलाता है। धर्मी (वस्तु) के अवस्थित रहते हुए उसमें जो पूर्व धर्म की निवृत्ति होकर एक नये धर्म की उत्पत्ति होती है उसे साङ्ख्य दर्शन में 'परिणाम' कहते हैं जैसे बदरी फल में परिपाक होने पर श्यामता तिरोहित हो जाती है और रक्तिमा (लाली) का आविर्भाव हो जाता है—यही परिणाम है। इसी प्रकार दूध का दही रूप विकार परिणाम है। 'अविचालि' कहने से परिणामानित्यता का भी परिहार कर दिया है। शेष अनपाय-इत्यादि विशेषणों से प्रध्वंसानित्यता का निरास कर दिया। अनपायोपजनविकारि—इसका विग्रह इस प्रकार है—अपायश्च उपजनश्च इत्यपायोपजनौ, तौ च विकारौ च (कर्मधारयः),

ब्दान्प्रयुयुक्षमाणो वैयाकरणकुलं गत्वाह—कुरु शब्दान्प्रयोक्ष्य इति। तावत्ये-वार्थमुपादाय शब्दान्प्रयुञ्जते।

यदि तर्हि लोक एषु प्रमाणम्, किं शास्त्रेण क्रियते।

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः १-३

लोकतोऽर्थप्रयुक्ते शब्दप्रयोगे शास्त्रेण धर्मनियमः क्रियते। किमिदं धर्मनियम इति। धर्माय नियमो[1] धर्मनियमः, धर्मार्थो[2] वा नियमो धर्म-नियमः, धर्मप्रयोजनो[3] वा नियमो धर्मनियमः।

यथा लौकिकवैदिकेषु १-४

पर शब्दों का प्रयोग करना चाहता हुआ वैयाकरण के घर जाकर नहीं कहता है—(मेरे लिये) शब्द बना दीजिये, मैं इन्हें प्रयुक्त करूँगा। उसी समय (विवक्षा होते ही) उस-उस अर्थ को कहने के लिये शब्दों का प्रयोग करते हैं।

यदि लोक शब्द-अर्थ-सम्बन्ध—इनमें प्रमाण है (अर्थात् ये तीनों सिद्ध हैं ऐसा बताता है) तो शास्त्र क्या बनाता है?

(वा०) लोक व्यवहार से अर्थ के निमित्त शब्द का प्रयोग सिद्ध होने पर शास्त्र धर्म का नियम करता है। 'धर्मनियम' का क्या अर्थ है? धर्म के लिये नियम, धर्म-रूप नियम, धर्म है प्रयोजन (प्रयोजक) जिसका ऐसा नियम।

वा० जैसे लोक और वेद में १—४

अस्य स्तः, इत्यपायोपजनविकारि (मत्वर्थीय इनिः), तद्भिन्नम् अनपायोपजनविकारि। यहाँ वार्ष्यायणि ने जो छः भाव विकार माने हैं उन्हीं का निषेधमुख परिगणन किया गया है। अपाय, उपजन, उत्पत्ति (= सत्ता व जन्म), वृद्धि, व्यय (नाश)। व्ययेन योगोऽस्यास्ति इति व्यय-योगि, तद्भिन्नम् अव्यययोगि।

१. धर्माय नियमः—यह तादर्थ्य सम्बन्ध को दिखाने के लिये अर्थ-निर्देश है, विग्रह-वाक्य नहीं।

२. यहाँ नियम धर्म के लिये है अतः नियम को धर्म नाम से कह दिया है जो जिसके लिये होता है उसे वही नाम दे दिया जाता है। तादर्थ्यात्ताच्छब्द्यम्। सो यहाँ कर्मधारय समास विवक्षित है, जिसका विग्रह होगा—धर्मश्चासौ नियमश्च।

३. 'धर्मप्रयोजनः' का फलितार्थ 'धर्म प्रयोज्य' है। प्रभाकर आदि के मत में लिङ् आदि क्रियाजन्य अपूर्व (अदृष्ट) रूप कार्य वाच्य है। जब वह अपनी सिद्धि के लिये पुरुष को प्रेरित करता है तो उसे 'नियोग' कहते हैं, वही धर्म है। यही धर्म असाधु-शब्द के निवृत्तिरूप नियम का कारण बनता है। इन के मत में अपूर्व (धर्म) ही यागादिका मुख्य फल है, स्वर्गादि तो गौण।

प्रियतद्धिता दाक्षिणात्याः—यथा लोके वेदे चेति प्रयोक्तव्ये[१] यथा लौकिकवैदिकेष्विति प्रयुञ्जते। अथवा युक्त एवात्र तद्धितः। यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु। लोके तावद् अभक्ष्यो ग्राम्यकुक्कुटः, अभक्ष्यो ग्राम्य-सूकर इत्युच्यते। भक्ष्यं च नाम क्षुत्प्रतिघातार्थमुपादीयते। शक्यं चानेन श्वमांसादिभिरपि क्षुत्प्रतिहन्तुम्। तत्र नियमः क्रियते—इदं भक्ष्यमिदमभक्ष्य-मिति। तथा—खेदात्स्त्रीषु प्रवृत्तिर्भवति। समानश्च खेदविगमो गम्यायां चागम्यायां च। तत्र नियमः क्रियते—इयं गम्येयमगम्येति। वेदे खल्वपि—पयोव्रतो[२] ब्राह्मणो यवागूव्रतो राजन्य आमिक्षा[३]व्रतो वैश्य इत्युच्यते। व्रतं च

दाक्षिणात्य (दक्षिण में रहनेवाले) लोग तद्धितरुचि होते हैं, जैसे लोके वेदे च (लोक व वेद में) इस प्रकार प्रयोग न कर 'लौकिकवैदिकेषु' ऐसा व्यवहार करते हैं। अथवा यहाँ तद्धित युक्त ही है (इस में तद्धितप्रियता कारण नहीं), जैसे लोक-प्रसिद्ध व वेदप्रसिद्ध सिद्धान्तों (सिद्धान्त प्रतिपादक वाक्यों) में। लोक में कहा जाता है—ग्राम का कुक्कुट अभक्ष्य है, ग्राम का सूअर अभक्ष्य है। भोज्य पदार्थ का ग्रहण क्षुधा की निवृत्ति के लिये किया जाता है और क्षुधा को पुरुष कुत्ते के मांस आदि से भी मिटा सकता है। वहाँ नियम किया जाता है—यह भक्ष्य है, यह अभक्ष्य है। इसी प्रकार राग से पुरुष स्त्री से समागम करता है और स्त्री चाहे समागम-योग्या हो अथवा समागम के अयोग्य, राग की निवृत्ति तो (दोनों में) एक सी है। वहाँ नियम किया जाता है—यह समागम-योग्या है और यह समागम के अयोग्य। वेद में

स्वात्मसिद्ध्यनुकूलस्य नियोज्यस्य प्रसिद्धये।
कुर्वत्स्वर्गादिकमपि प्रधानं कार्यमेव नः॥

१. समुदायेषु वृत्ताः शब्दा अवयवेष्वपि वर्तन्ते—अर्थात् शब्दोंका कुछ ऐसा स्वभाव है कि जो समुदाय-वाचक शब्द होते हैं वे समुदाय के एकदेश को कहने में भी व्यवहृत हो जाते हैं। लोक और वेद दोनों शब्द समुदायरूप अर्थ को कहते हैं और लोक के एकदेश (अवयव) और वेद के एकदेश (अवयव) को भी। ऐसी अवस्था में 'यथा लोके वेदे च' ऐसा ही कहना युक्त (गौरवदोष-रहित) होता। पर तद्धित में रुचि विशेष के कारण वार्तिककार समुदाय (अवयवी) लोक व वेद और इनके एकदेश (अवयव) में (जो वस्तुतः अभिन्न हैं) भेद की कल्पना करके आधाराधेय भाव रूप सम्बन्ध बनाकर 'तत्र भवः' इस अर्थ में तद्धित (ठञ्) प्रत्यय करते हैं। अर्थ केवल 'लोक में, वेद में' इतना ही है। जब 'कृतान्त' विशेष्य हो तो वह न लोकस्वरूप है न वेदस्वरूप, किंतु लोक और वेद के अन्दर वर्तमान है, वहाँ आधाराधेय-भाव वास्तव है, अतः 'तत्र भवः' अर्थ में तद्धित युक्त ही है। तद्धितप्रियता तद्धितप्रत्यय करने में हेतु नहीं।

२. पयो व्रतयतीति पयोव्रतः। कर्मण्यण्। यहाँ 'व्रत' प्रातिपदिक से भोजन

नामाभ्यवहारार्थमुपादीयते । शक्यं चानेन शालिमांसादीन्यपि व्रतयितुम् । तत्र नियमः क्रियते । तथा बैल्वः खादिरो वा यूपः स्यात् इत्युच्यते । यूपश्च नाम पश्वनुबन्धार्थमुपादीयते । शक्यं चानेन यत्किञ्चिदेव काष्ठमुच्छ्रित्या[3]-नुच्छ्रित्य वा पशुरनुबन्द्धुम् । तत्र नियमः क्रियते । तथा अग्नौ कपालान्यधिश्रित्याभिमन्त्रयते—भृगूणामङ्गिरसां घर्मस्य तपसा तप्यध्वम् इति । अन्तरेणापि मन्त्रमग्निर्दहनकर्मा कपालानि सन्तापयति । तत्र च नियमः क्रियते—एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति । एवमिहापि समानायामर्थावगतौ शब्देन चापशब्देन च धर्म नियमः क्रियते शब्देनैवार्थोऽभिधेयो नापशब्देनेति । एवं क्रियमाणमभ्युदयकारि भवतीति ।

अस्त्यप्रयुक्तः

सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ताः । तद्यथा—ऊष, तेर, चक्र, पेचेति ।

भी—ब्राह्मण दूध का आहार करे, क्षत्रिय यवागू (पतली भात) का ही और वैश्य आमिक्षा का ही । कोई भी खाद्य वस्तु आहार रूप में ली जा सकती है वह मांसौदन, आदि का भी आहार कर सकता है । वहाँ नियम किया जाता है ।

इसी प्रकार यूप बिल्व का अथवा खैर का बना होना चाहिये ऐसी विधि है । यूप पशु बाँधने में उपयुक्त होता है । कोई व्यक्ति किसी भी काष्ठ को लेकर उसे छील कर (तराशकर) अथवा बिना छीले उससे पशु को बाँध सकता है । वहाँ नियम किया जाता है । इसी प्रकार अग्नि पर कपालों को रखकर उसपर मन्त्र पढ़ता है—भृगुओं और अङ्गिरस् गोत्र के ऋषियों के तेज की गरमी से तपो । मन्त्र के बिना भी जलाने की क्रिया करने वाला अग्नि कपालों को तपायेगा ही । वहाँ नियम किया जाता है—ऐसा करना कल्याणकारी होता है । इसी प्रकार यहाँ भी शब्द और अपशब्द से एक बराबर अर्थ बोध होने पर धर्म नियम किया जाता है—शब्द से अर्थ कहना चाहिये, अपशब्द से नहीं । ऐसा करने से अभ्युदय होता है ।

(वा०) अप्रयुक्त (शब्द) भी है ।

निश्चय ही अप्रयुक्त शब्द भी हैं । जैसे—ऊष, तेर, चक्र, पेच ।

(खाने) अर्थ में णिच् होकर ण्यन्त धातु 'व्रति' से अण् कृत् प्रत्यय हुआ है । व्रतयति=भुङ्क्ते । अन्यत्र व्रतयति=भोजनं परिहरति ।

२. क्षार के योग से सन्तप्त दूध के फट जाने पर उसका जो तरल भाग है, उसे आमिक्षा कहते हैं, स्थूल भाग को 'वाजिन' कहते हैं ।

३. उच्छ्रित्य—सन्तक्ष्य, छीलकर, तराशकर । श्रिञ् का ल्यबन्त रूप है । उद् उपसर्ग-वश अर्थान्तर हुआ है । यही संगत अर्थ है । 'गाड़कर तथा सीधा खड़ा कर' यह अर्थ नहीं, कारण कि यहाँ दो प्रकार का नियम किया गया है । पशुबन्धन काष्ठ बिल्व

किमतो यत्सन्त्यप्रयुक्ताः। प्रयोगाद्धि भवाञ्छब्दानां साधुत्वमध्यवस्यति। य इदानीमप्रयुक्ता नामी साधवः स्युः।

इदं तावद् विप्रतिषिद्धं यदुच्यते सन्ति वै शब्दा अप्रयुक्ता इति। यदि सन्ति नाप्रयुक्ताः, अथाप्रयुक्ता न सन्ति, सन्ति चाप्रयुक्ताश्चेति विप्रतिषिद्धम्। प्रयुञ्जान एव खलु भवानाह—सन्ति शब्दा अप्रयुक्ता इति। कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे 'साधुः स्यात्। नैतद् विप्रतिषिद्धम्। सन्तीति तावद् ब्रूमः, यदेताञ्शास्त्रविदः शास्त्रेणानुविदधते। अप्रयुक्ता इति ब्रूमः, यल्लोकेऽप्रयुक्ता इति। यदप्युच्यते--कश्चेदानीमन्यो भवज्जातीयकः पुरुषः शब्दानां प्रयोगे साधुः स्यादिति। न ब्रूमोऽस्माभिरप्रयुक्ता इति। किन्तर्हि

इससे क्या, यदि अप्रयुक्त शब्द भी हैं?

आप प्रयोग से ही तो शब्दों के साधुत्व का निश्चय करते हैं। हो सकता है जो अप्रयुक्त हैं वे असाधु हों।[2]

यह कहना कि अप्रयुक्त शब्द हैं, परस्पर-विरुद्ध है। यदि शब्द हैं तो अप्रयुक्त नहीं हैं, और यदि अप्रयुक्त हैं तो नहीं हैं, हैं भी और अप्रयुक्त भी, यह परस्पर-विरोधी बात है। (और यह भी बड़ा कौतुक है कि) आप ऊष तेर आदि शब्दों का प्रयोग करते हुए ही यह कहते हैं कि (ये) शब्द अप्रयुक्त हैं।

इस समय आप जैसा दूसरा कौन पुरुष शब्दों के प्रयोग में चतुर होगा? (नहीं) यह परस्पर विरोधी वचन नहीं है। हम कहते हैं शब्द हैं क्योंकि शास्त्रकार इनका शास्त्र द्वारा अनुकरण (अथवा अन्वाख्यान) करते हैं। हम कहते हैं ये अप्रयुक्त हैं क्योंकि लोक में इनका प्रयोग नहीं। यह तुम्हारा कहना कि इस समय आप जैसा दूसरा कौन पुरुष शब्दों के प्रयोग में चतुर होगा, (इसमें हमारा यह कहना है कि) हमारा यह अभिप्राय नहीं कि हमारे द्वारा अप्रयुक्त हैं, किन्तु लोक में अप्रयुक्त हैं।

होना चाहिये या खैर, इस से अतिरिक्त नहीं। दूसरा नियम यह है कि वह काष्ठ यूप रूप होना चाहिये। यूप-रूपापत्ति बिना तक्षण आदि व्यापार के संभविनी नहीं, क्योंकि कहा है--अष्टाश्रिर्यूपो भवति (आठ किनारोंवाला यूप होता है)। अतः निखनन (गाड़ना) और उच्छ्रयण (सीधा खड़ा करना) यद्यपि दोनों विधि के अंग हैं पर प्रकृत नियम का विषय नहीं हैं। 'यूपमुच्छ्रयते' इस नियम विधि का यहाँ श्रवण भी नहीं है।

१. साधु का यहाँ कुशल अर्थ है। यहाँ भाष्यकार की प्रशंसा में तात्पर्य है। दूसरे लोग यहाँ सोत्प्रास (कटाक्षगर्भित) कथन समझते हैं। प्रयोग करना और साथ ही कहना कि ये शब्द प्रयुक्त नहीं होते, यह तो बड़ी चतुराई (चालाकी) है।

२. इससे अप्रयुक्त (असाधु) शब्दों का अन्वाख्यान करनेवाली व्याकरण-स्मृति मूलअप्रमाण हो जायगी।

लोकेऽप्रयुक्ता इति। ननु च भवानप्यभ्यन्तरोलोके। अभ्यन्तरोऽहं लोके, न त्वहं लोकः।

अस्त्यप्रयुक्त इति चेन्नार्थे शब्दप्रयोगात्

अस्त्यप्रयुक्त इति चेत्। तन्न। किं कारणम्। अर्थे शब्दप्रयोगात्। अर्थे शब्दाः प्रयुज्यन्ते। सन्ति चैषां शब्दानामर्था येष्वर्थेषु प्रयुज्यन्ते।

अप्रयोगः प्रयोगान्यत्वात्[२]

अप्रयोगः खल्वप्येषां शब्दानां न्याय्यः। कुतः। प्रयोगान्यत्वात्। यदेषां शब्दानामर्थेऽन्याञ्छब्दान्प्रयुञ्जते। तद्यथा--ऊषेत्यस्य शब्दस्यार्थे क यूयमुषिताः, तेरेत्यस्यार्थे क यूयं तीर्णाः, चक्रेत्यस्यार्थे क यूयं कृतवन्तः, पेचेत्यस्यार्थे क यूयं पक्वन्त इति।

क्यों जी, आप भी तो लोक के भीतर ही हैं।

(ठीक है) मैं लोक के भीतर हूँ, पर लोक तो नहीं हूँ।

(वा०) शब्द अप्रयुक्त भी होता है—यदि ऐसा कहो तो ठीक नहीं। अर्थ में शब्द का प्रयोग होने से।

शब्द अप्रयुक्त भी है ऐसा कहना ठीक नहीं, कारण कि अर्थ को कहने के लिये शब्दों का प्रयोग होता है और इन शब्दों के अर्थ हैं जिनमें ये प्रयुक्त होते हैं।

(वा०) अप्रयोग (भी ठीक ही है), इनके स्थान में अन्य शब्दों का प्रयोग होने से।

इन शब्दों का अप्रयोग भी ठीक ही है। क्यों ? अन्य शब्दों का प्रयोग होने से। क्योंकि इन शब्दों के अर्थ में दूसरे शब्दों का प्रयोग करते हैं। जैसे—'ऊष' इस शब्द के अर्थ में क यूयमुषिताः (आप कहाँ रहे) इस वाक्य में उषित शब्द का प्रयोग, 'तेर' इस शब्द के अर्थ में क यूयं तीर्णाः (तुम कहाँ तैरे) इस वाक्य में 'तीर्ण' शब्द का प्रयोग और 'चक्रे' शब्द के अर्थ में क यूयं कृतवन्तः (तुमने कहाँ कार्य किया) इस वाक्य में 'कृतवन्तः' शब्द का प्रयोग तथा 'पेचे' इस शब्द के अर्थ

---

१ अभ्यन्तरोहं लोके इत्यादि। तात्पर्य यह है कि जिस प्रकार लोक शब्दों को अर्थ बोधन कराने के लिये प्रयुक्त करता है वैसे मैंने इनका प्रयोग नहीं किया, मैंने तो इनका स्वरूप दिखाने के लिये उच्चारण किया है। लोक शब्द से भाष्यकार का अभिप्राय जन समुदाय से है जो अर्थ को कहने के लिये शब्दों का प्रयोग करता है। ऊष, तेर, चक्र, पेच—ये क्रम से वस्, तॄ, कृ, पच् धातुओं के लिट् लकार के मध्यम पुरुष बहुवचन में रूप हैं।

२. प्रयुज्यत इति प्रयोगः शब्दः सोऽन्यो यस्यार्थस्य स प्रयोगान्यः। यहाँ पूर्वनिपात-प्रकरण के अनित्य होने से सर्वनाम 'अन्य' का पर निपात हुआ।

अप्रयुक्ते दीर्घसत्रवत्

यद्यप्यप्रयुक्ता अवश्यं दीर्घसत्रवल्लक्षणेनानुविधेयाः। तद्यथा दीर्घसत्त्राणि वार्षशतिकानि[1] वार्षसहस्रिकाणि च। न चाद्यत्वे कश्चिदप्याहरति। केवलमृषिसम्प्रदायो[2] धर्म[3] इति कृत्वा याज्ञिकाः शास्त्रेणानुविदधते।

सर्वे देशान्तरे[4]

सर्वे खल्वप्येते शब्दा देशान्तरेषु प्रयुज्यन्ते। न चैवोपलभ्यन्ते। उपलब्धौ यत्नः क्रियताम्। महान्शब्दस्य प्रयोगविषयः। सप्तद्वीपा वसुमती, त्रयो लोकाः, चत्वारो वेदाः साङ्गाः सरहस्या[5] बहुधा भिन्ना एकशतमध्वर्यु-

में क्व यूयं पक्वन्तः (तुमने कहाँ पकाया) इस वाक्य में 'पक्वन्तः' शब्द का प्रयोग।

(वा०) अप्रयुक्त शब्दों के विषय में दीर्घसत्रों की तरह।

यद्यपि अप्रयुक्त हैं तो भी लम्बे समय तक रहनेवाले यज्ञों की तरह शास्त्र-द्वारा इनका अन्वाख्यान करना ही होता है। जैसे सौ वर्ष तक और हजार वर्ष तक रहने वाले यज्ञ होते हैं, पर आजकल इन्हें कोई नहीं करता। केवल वेदाध्ययन धर्म है ऐसा मानकर याज्ञिक लोग शास्त्र से इनका अन्वाख्यान करते हैं।

(वा०) सभी (अप्रयुक्त शब्द) दूसरे देशों में

ये सभी (अप्रयुक्त) शब्द दूसरे देशों में प्रयुक्त होते हैं, पर हमारी उपलब्धि का विषय तो नहीं हैं। उपलब्धि के लिये यत्न करना चाहिये। शब्द प्रयोग का बहुत बड़ा क्षेत्र है। प्रथम तो पृथिवी के ही सात द्वीप हैं। तीन लोक हैं। चार वेद हैं अङ्ग और रहस्य सहित। इनके नाना भेद हैं—यजुर्वेद की १०१

---

१. वर्षाणां शतं वर्षशतम्। वर्षशतं (द्वितीया) भावीनि वार्षशतिकानि। प्राग्वतीयष्ठञ्।

२. ऋषि=वेद। सम्प्रदायः—सम्यक् प्रकर्षेण दीयते गुरुणा शिष्यायेति। गुर्वध्ययन पूर्वक ही शिष्य का वेदाध्ययन होता है।

३. जिस प्रकार दीर्घ सत्रों के आजकल न किये जाने पर भी उनके विषय के अध्ययन और ज्ञान से पुण्य होता है, इसी प्रकार पाणिनि के समय में अप्रयुक्त पर उससे पूर्व प्रयुक्त शब्दों के ज्ञानमात्र से पुण्य होता है, अतः उनका इस व्याकरण में अनुशासन समूल और युक्त ही है। किं च। इन शब्दों का पूर्वकाल में प्रयोग होता था, यह भी वर्तमान व्याकरणस्मृति में इनके अनुशासन के बल पर ही जाना जाता है।

४. वस्तुतः जिन शब्दों को हम अप्रयुक्त समझते हैं वे भी किसी न किसी दूसरे देश में प्रयुक्त होते हैं। केवल हमारा उनके विषय में ज्ञान नहीं होता, कारण कि प्रयोग का क्षेत्र अति महान् है।

५. रहस्य शब्द का अर्थ उपनिषद् है, कोई वेदमूलक मन्वादि स्मृति को भी रहस्य कहते हैं।

शाखाः, सहस्रवर्त्मा सामवेदः, एकविंशतिधा बाह्वृच्यं[1] नवधाऽऽथर्वणो वेदः वाकोवाक्यम्[2], इतिहासः पुराणं वैद्यकमित्येतावाञ्छब्दस्य प्रयोगविषयः। एतावन्तं शब्दस्य प्रयोगविषयमननुनिशम्य सन्त्यप्रयुक्ता इति वचनं केवलं साहसमात्रमेव। एतस्मिंश्चातिमहति शब्दस्य प्रयोगविषये ते ते शब्दास्तत्र तत्र नियतविषया दृश्यन्ते। तद्यथा शवतिर्गतिकर्मा कम्बोजेष्वेव भाषितो भवति। विकार एनमार्या भाषन्ते शव इति। हम्मतिः सुराष्ट्रेषु, रंहतिः प्राच्यमध्येषु, गमिमेव त्वार्याः प्रयुञ्जते। दातिर्लवनार्थे प्राच्येषु, दात्रमुदीच्येषु।

ये चाप्येते भवतोऽप्रयुक्ता अभिमताः शब्दा एतेषामपि प्रयोगो दृश्यते। क्व। वेदे। तद्यथा--'सप्तास्ये रेवती रेवदूष[3], यद्वो रेवती रेवत्यं तदूष, यन्मे नरः श्रुत्यं ब्रह्म चक्र, यत्रा नश्चक्रा जरसं तनूनाम्' इति।

शाखा हैं, सामवेद के १०००, मार्ग हैं, बह्वृचों का आम्नाय २१ प्रकार से भिन्न है और अथर्ववेद ९ प्रकार से। (यही नहीं) वाकोवाक्य भी है, इतिहास है, पुराण है और वैद्यक भी—इतना शब्द के प्रयोग का विषय है। इस सारे शब्द के विषय को जाने बिना 'अप्रयुक्त शब्द भी हैं' ऐसा कहना केवल साहसमात्र है।

इस बहुत बड़े प्रयोगक्षेत्र में शब्द अपने-अपने नियत विषय में ही प्रयुक्त होते हैं।

जैसे 'शव्' धातु का तिङन्त रूप में कम्बोज लोग ही प्रयोग करते हैं, आर्य लोग इससे बने हुए (कृदन्त) शव का प्रयोग करते हैं। 'हम्म्' धातु सुराष्ट्र देश में 'रंह' प्राच्य और मध्य देश में देखी जाती हैं। आर्य लोग तो (इस अर्थ में) गम् का ही प्रयोग करते हैं। 'दा' (तिङन्त) का काटने अर्थ में प्रयोग प्राच्य लोगों में होता है, 'दात्र' (कृदन्त नाम) का प्रयोग उदीच्य लोग करते हैं।

और जो शब्द आपने अप्रयुक्त मान रखे हैं उनका प्रयोग भी होता है। कहाँ? वेद में। जैसे सप्तास्ये इत्यादि श्रुति में 'ऊष' का प्रयोग है, यन्मे इत्यादि श्रुतियों में 'चक्र' शब्द का प्रयोग है।

---

१. बहव ऋच एषां सन्ति ते बह्वृचाः, ऋग्वेदिनः। बह्वृचानाम् आम्नायः (वेदः) बाह्वृच्यम्।

२. प्रश्नोत्तररूप ग्रन्थ को 'वाकोवाक्य' कहते हैं। जैसे—किं स्विदावपनं महद् भूमिरावपनं महत् (यजुः २३।४५-४६)।

३. ऋ० सं० ४।५१।४॥ ऋ० सं० १।६५।११॥ ऋ० सं० १।८९।९॥

किं पुनः शब्दस्य ज्ञाने धर्म आहोस्वित्प्रयोगे ।[1]

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मः

ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्मोऽपि प्राप्नोति । यो हि शब्दाञ्जानात्यपशब्दानप्यसौ जानाति । यथैव शब्दज्ञाने धर्म एवमपशब्दज्ञानेऽप्यधर्मः । अथवा भूयानधर्मः प्राप्नोति । भूयांसो ह्यपशब्दा अल्पीयांसः शब्दाः । एकैकस्य शब्दस्य बहवोऽपभ्रंशाः । तद्यथा गौरित्यस्य गावी गोणी गोता गोपोतलिकेत्येवमादयोऽपभ्रंशाः ।

आचारे नियमः

आचारे पुनर्ऋषिर्नियमं वेदयते—तेऽसुरा हेलयो हेलय इति कुर्वन्तः पराबभूवुरिति ।

क्या शब्द के ज्ञान में धर्म (लाभ) होता है अथवा प्रयोग में ?

(वा०) यदि ज्ञान में धर्म हो तो वैसे ही अधर्म (भी होना चाहिये) ।

ज्ञान में धर्म कहोगे तो अधर्म भी होना चाहिये । जिस प्रकार शब्द-ज्ञान में धर्म होता है इसी प्रकार अपशब्द ज्ञान में अधर्म भी होगा । अथवा अधर्म अधिक होगा अपशब्द अधिक हैं और उनकी अपेक्षा शब्द थोड़े हैं । एक-एक शब्द के बहुत से अपभ्रंश होते हैं । जैसे 'गो' शब्द के गावी, गोणी, गोता, गोपोतलिका इत्यादि अपभ्रंश हैं ।

(वा०) आचार[2] में नियम है

वेद आचार (प्रयोग) में नियम बतलाता है । वे असुर हेऽलयः, हेऽलयः ऐसा अपप्रयोग करते हुए पराजित हो गये ।

---

१. एकः शब्दः सम्यग्ज्ञातः शास्त्रान्वितः सुप्रयुक्तः स्वर्गे लोके कामधुग् भवति—ऐसी श्रुति है । वार्तिककार से कहा हुआ धर्म-नियम श्रुतिमूलक है । पर इस श्रुति में ज्ञान और प्रयोग दोनों में धर्म (अभ्युदयरूप फलवाला) कहा गया है अतः प्रकृत में प्रश्न किया गया है । क्या ऐसा समझा जाय कि ज्ञान से धर्म होता है, शुद्ध प्रयोग तो केवल इस बात का सूचक होता है कि शब्द अच्छी तरह जाना गया है अथवा यूँ समझें कि शुद्ध प्रयोग से धर्म होता है, शुद्ध प्रयोग हुआ है इसका सम्यक ज्ञान से अनुमान होता है ।

२. आचार=व्यवहार, प्रयोग । नियम=सङ्कोच । अपशब्दों के प्रयोग का अनिष्ट फल-निर्देशद्वारा वेद, साधु शब्दों का ही प्रयोग करना चाहिये, ऐसा नियम सूचित करता है ।

अस्तु तर्हि प्रयोगे ।

प्रयोगे सर्वलोकस्य

यदि प्रयोगे धर्मः सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत। कश्चेदानीं भवतो मत्सरो यदि सर्वो लोकोऽभ्युदयेन युज्येत। न खलु कश्चिन्मत्सरः। प्रयत्नानर्थक्यं तु भवति। फलवता च नाम प्रयत्नेन भवितव्यम्। न च प्रयत्नः फलाद् व्यतिरेच्यः।

ननु च ये कृतप्रयत्नास्ते साधीयः शब्दान्प्रयोक्ष्यन्ते, त एव साधीयोऽभ्युदयेन योक्ष्यन्ते।

व्यतिरेकोऽपि वै लक्ष्यते। दृश्यते हि—कृतप्रयत्नाश्चाप्रवीणा अकृतप्रयत्नाश्च प्रवीणाः। तत्र फलव्यतिरेकोपि स्यात्।

एवं तर्हि नापि ज्ञान एव धर्मो नापि प्रयोग एव। किन्तर्हि

शास्त्रपूर्वके प्रयोगेऽभ्युदयस्तत्तुल्यं वेदशब्देन

शास्त्रपूर्वकं यः शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यते। तत्तुल्यं वेदशब्देन। वेदशब्दा अप्येवमभिवदन्ति—योऽग्निष्टोमेन यजते य उ चैनमेवं वेद[1], योऽग्नि

तो प्रयोग में (धर्म) सही।

(वा०) प्रयोग में धर्म मानने से सभी का (एक समान अभ्युदय होगा)। यदि प्रयोग में धर्म हो तो सभी अभ्युदय से युक्त हो जायँगे।

तो इसमें आपको जलन क्यों?

जलन कोई नहीं, प्रयत्न तो व्यर्थ पड़ता है। प्रयत्न को फलवान् होना चाहिये।

अजी, जिन्होंने प्रयत्न किया है वे दूसरों की अपेक्षा बहुत अच्छी तरह (अति शुद्ध रूप में) शब्दों का प्रयोग करेंगे और वे ही अधिक अभ्युदय से युक्त होंगे।

वैपरीत्य (उल्टापन) भी देखा जाता है—(व्याकरण में) प्रयत्न करने पर भी कोई (प्रयोग में) प्रवीण नहीं होते और कोई एक बिना प्रयत्न किये (प्रयोग में) प्रवीण होते हैं। (जैसे प्रवीणता का भेद है वैसे) वहाँ अभ्युदय-रूप फल का भी अभाव रहेगा।

ऐसी स्थिति में (प्रयत्न की अनर्थकता होने पर) यह मानना होगा कि न तो केवल ज्ञान में धर्म है और न केवल प्रयोग में, किन्तु—

(वा०) शास्त्रबोध पूर्वक प्रयोग में धर्म है, वेद भी ऐसा ही कहता है। जो कोई शास्त्र को जानकर (साधु रूप से) शब्दों का प्रयोग करता है, वह अभ्युदय से युक्त होता है। वेद के शब्द भी ऐसी ही बात कहते हैं—जो अग्निष्टोम याग करता है

---

१. यहाँ शब्दक्रमादर्थक्रमो बलीयान्—इस न्याय से 'य उ चैनं वेद' इस का

नाचिकेतं चिनुते य उ चैनमेवं वेद ।

अपर आह--तत्तुल्यं वेदशब्देनेति । यथा वेदशब्दा नियमपूर्वमधीताः फलवन्तो भवन्त्येवं यः शास्त्रपूर्वकं शब्दान्प्रयुङ्क्ते सोऽभ्युदयेन युज्यत इति ।

अथवा पुनरस्तु ज्ञान एव धर्म इति । ननु चोक्तम्—ज्ञाने धर्म इति चेत्तथाऽधर्म इति । नैष दोषः । शब्दप्रमाणका वयम् । यच्छब्द आह तदस्माकं प्रमाणम् । शब्दश्च शब्दज्ञाने धर्ममाह, नापशब्दज्ञानेऽधर्मम् । यच्च पुनरशिष्टाप्रतिषिद्धं नैव तद्दोषाय भवति, नाभ्युदयाय । तद्यथा हिक्कित-हसितकण्डूयितानि नैव दोषाय भवन्ति, नाभ्युदयाय ।

अथवाऽभ्युपाय एवापशब्दज्ञानं[1] शब्दज्ञाने । यो ह्यपशब्दाञ्जानाति शब्दानप्यसौ जानाति । तदेवं ज्ञाने धर्म इति ब्रुवतोऽर्थादापन्नं भवति—अपशब्दज्ञानपूर्वके शब्दज्ञाने धर्म इति ।

और जो इसे (शास्त्र से) जानता है, जो नाचिकेत अग्नि का चयन करता है और जो इस चयन को (विधिशास्त्र से) जानता है ।

दूसरा कोई 'तत्तुल्यं वेदशब्देन' इसका इस प्रकार व्याख्यान करता है—जिस प्रकार वेद के शब्द नियमपूर्वक पढ़े गये फलवाले होते हैं इसी प्रकार जो शास्त्र ज्ञान-पूर्वक शब्दों का प्रयोग करता है वह अभ्युदय से युक्त होता है ।

अथवा फिर ज्ञान में ही धर्म मान लो । अजी, अभी कहा था—

यदि ज्ञान में धर्म मानोगे तो उसी प्रकार अधर्म भी प्राप्त होगा । यह कोई दोष नहीं । हम शब्द (श्रुति आप्तोपदेश) को प्रमाण मानते हैं । शब्द शब्द के ज्ञान में धर्म कहता है, अपशब्द के ज्ञान में अधर्म नहीं कहता । और जो कोई कर्म न तो विहित हो और न ही प्रतिषिद्ध हो उसके करने से न दोष होता है और न अभ्युदय, जैसे हिचकची, हंसी और खुजली करना न दोषकारक होता है और न ही अभ्युदयकारक ।

अथवा अपशब्द-ज्ञान शब्दज्ञान में उपाय ही है । जो कोई अपशब्दों को जानता है वह शब्दों को भी जानता है । इस प्रकार ज्ञान में धर्म है ऐसा कहने-वाले के लिये पूर्व में अपशब्द ज्ञान होनेपर जो शब्दज्ञान होता है उसमें धर्म है यह अर्थ-सामर्थ्य से ही सिद्ध हो जाता है ।

अर्थ पहले होना चाहिये । जो अग्निष्टोम को जानकर इसका अनुष्ठान करता है । यहाँ वेद भी ज्ञानपूर्वक अनुष्ठान का विधान करता है ।

१. शब्द ज्ञान में अविनाभावी रूप से अपशब्द ज्ञान होता है, अपशब्दज्ञान उसमें सहकारी (सहायक) होता है । अपशब्दों को स्वरूपतः जान लेने पर तद्भिन्न

अथवा कूपखानकवदेतद्भविष्यति। तद्यथा कूपखानकः[1] कूपं खनन्यद्यपि मृदा पांसुभिश्चावकीर्णो भवति, सोऽप्सु संजातासु तत एव तं गुणमासादयति येन स दोषो निर्हण्यते, भूयसा चाभ्युदयेन योगो भवति। एवमिहापि। यद्यप्यपशब्दज्ञानेऽधर्मस्तथापि यस्त्वसौ शब्दज्ञाने धर्मस्तेन च स दोषो निर्घानिष्यते[2] भूयसा चाभ्युदयेन योगो भविष्यति।

यदप्युच्यते आचारे नियम इति। याज्ञे कर्मणि स नियमोऽन्यत्रानियमः। एवं हि श्रूयते—यर्वाणस्तर्वाणो नाम ऋषयो बभूवुः प्रत्यक्षधर्माणः परावरज्ञा[3] विदितवेदितव्या अधिगतयाथातथ्याः[4]। ते तत्रभवन्तो यद्वा नस्तद्वा न इति प्रयोक्तव्ये यर्वाणस्तर्वाण इति प्रयुञ्जते, याज्ञे पुनः

अथवा यह कूएँ को खोदनेवाले की तरह होगा। जैसे कूएँ को खोदनेवाला कूएँ को खोदता हुआ मिट्टी और धूलि से विलिप्त (दूषित) हो जाता है, पर पानी निकलने पर वह उस स्नानपान आदि इष्ट साधन उत्कर्ष को प्राप्त होता है जिससे वह दोष नष्ट हो जाता है, और बड़े अभ्युदय से योग होता है। इसी प्रकार यहाँ भी। यद्यपि अपशब्द ज्ञान में अधर्म है (ऐसा मान भी लिया जाय) तो भी जो शब्द-ज्ञान में धर्म है उससे वह दोष (पाप) नष्ट हो जायगा और बड़े अभ्युदय से योग होगा।

और जो कहा है कि आचार अर्थात् व्यवहार में धर्म का नियम है, वह नियम यज्ञसम्बन्धी कर्म में लागू होता है, अन्यत्र नहीं। ऐसा सुनते हैं—यर्वन् और तर्वन् नाम के ऋषि हुए धर्म को साक्षात् किये हुए जो पर और अवर ब्रह्म को जानते थे, जिन्हें ज्ञेयमात्र का ज्ञान था और जिन्होंने ज्ञेय के सत्य वास्तविक स्वरूप को प्राप्त किया था। वे पूज्य लोग यद्वा नः, तद्वा नः (जो कुछ हमारे लिये हो, वही हमारे लिये हो) ऐसा

शब्दों का ज्ञान होता है। फल शब्द ज्ञान से उत्पन्न होता है, तदङ्गभूत अपशब्द-ज्ञान का पृथक् फल कुछ नहीं।

१. यहाँ कर्ता में ण्वुल् किया है, प्रकृत में शिल्पी विवक्षित न होने से शिल्पिनि ष्वुन् (३।१।१४५।।) से ष्वुन् नहीं हुआ। ष्वुन् होनेपर 'खनक' रूप होता।

२. निर् पूर्वक हन् धातु का कर्म वाचक लृट् का प्र० पु० एक० में रूप है। विकल्प से चिण्वद्भाव होने से 'हन्' के ह् को घ् हुआ और उपधा वृद्धि हुई। पक्ष में 'निर्हणिष्यते' ऐसा रूप होगा।

३. प्रायः मुद्रित भाष्य पुस्तकों में 'परापरज्ञाः' ऐसा पाठ है, पर द्वे ब्रह्मणी वेदितव्ये परं चैवावरं च—इत्यादि में अवर देखा जाता है, वही प्रकृत में होना चाहिये। परापरज्ञाः ऐसा पाठ हो तो परा-विद्या और अपरा विद्या इन दोनों को जाननेवाले—यह अर्थ है।

४. यथातथं भावः=याथातथ्यम्। तथाऽनतिक्रम्य यथातथम्।

कर्मणि नापभाषन्ते । तैः पुनरसुरैर्याज्ञे कर्मण्यपभाषितम् , ततस्ते पराभूताः ।

अथ व्याकरणमित्यस्य शब्दस्य कः पदार्थः ।

सूत्रम् ।

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोऽनुपपन्नः

सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थो नोपपद्यते—व्याकरणस्य सूत्रमिति । किं हि तदन्यत्सूत्राद् व्याकरणं यस्यादः सूत्रं स्यात् ।

शब्दाप्रतिपत्तिः

शब्दानां चाप्रतिपत्तिः प्राप्नोति—व्याकरणाच्छब्दान्प्रतिपद्यामहे इति न हि सूत्रत एव शब्दान्प्रतिपद्यन्ते । किं तर्हि व्याख्यानतश्च ।

ननु च तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवति । न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम्—वृद्धिः, आत् , ऐज् इति । किंतर्हि । उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार[1] इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवति ।

न कहकर यर्वाणस्तर्वाणः इस तरह का प्रयोग करते थे (जिससे उनको इसी नाम से प्रसिद्धि हो गई), पर वे यज्ञ कर्म में अपभाषण नहीं करते थे । असुरों ने यज्ञ कर्म में अपभाषण किया, अतः वे पराजित हुए ।

अब (यह विचार्य है) कि 'व्याकरण' शब्द का क्या अर्थ है ।

सूत्र (अर्थ है) ।

(वा०) व्याकरण का अर्थ यदि सूत्र हो तो षष्ठी का अर्थ संगत नहीं होता । व्याकरण का सूत्र । व्याकरण सूत्र से कौनसा भिन्न पदार्थ है जिसका वह सूत्र हो ।

(वा०) शब्दों का बोध भी नहीं ।

(सूत्र अर्थ होने पर) शब्दों का बोध न हो सकेगा । 'हम व्याकरण से शब्दों को जानते हैं' ऐसा व्यवहार भी न बन सकेगा । सूत्र मात्र से तो शब्दों को जानते नहीं ।

तो किससे ?

व्याख्यान से भी ।

अजी, वही सूत्र पदच्छेद करके पढ़ा हुआ व्याख्यान हो जाता है ।

केवल विभाग करके पढ़े गये पद व्याख्यान नहीं बन जाते—

वृद्धिः, आत् , ऐच् ।

तो क्या ?

उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार—यह सब मिलजुलकर व्याख्यान बनता है ।

---

१. वाक्य को बनानेवाले पद जो दूसरे सूत्रों में पढ़े हैं उनको स्वरितप्रतिज्ञा के बल पर कल्पना करना प्रकृत में वाक्याध्याहार है ।

एवं तर्हि शब्दः ।

शब्दे ल्युडर्थः

यदि शब्दो व्याकरणं ल्युडर्थो[1] नोपपद्यते । व्याक्रियन्ते शब्दा अनेनेति व्याकरणम् । न हि शब्देन किञ्चिद् व्याक्रियते । केन तर्हि । सूत्रेण ।

भवे च तद्धितः

भवे च तद्धितो नोपपद्यते—व्याकरणे भवो योगो वैयाकरण इति । नहि शब्दे भवो योगः । क्व तर्हि । सूत्रे ।

प्रोक्तादयश्च तद्धिताः

प्रोक्तादयश्च तद्धिता नोपपद्यन्ते । पाणिनिना प्रोक्तं पाणिनीयम् । आपिशलं काशकृत्स्नमिति । नहि पाणिना शब्दाः प्रोक्ताः । किं तर्हि । सूत्रम् । किमर्थमिदमुभयमुच्यते भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति । न प्रोक्ताद-

---

तो ऐसी अवस्था में व्याकरण का अर्थ 'शब्द' मान लो ।

(वा०) 'शब्द' अर्थ हो तो ल्युट् प्रत्यय का अर्थ नहीं जुड़ता । यह 'व्याकरण' है इस लिये कि इससे शब्दों का प्रकृतिप्रत्यय आदि रूप विभाग किया जाता है । शब्द से तो कुछ भी विभाग नहीं किया जाता ।

तो किससे ?

सूत्र से ।

(वा०) 'तत्रभवः' उसमें होता है इस अर्थ में तद्धित प्रत्यय भी नहीं हो सकेगा—व्याकरण में होनेवाला योग वैयाकरण होता है । (यहाँ 'व्याकरण' से तद्धित अण् हुआ है) । शब्द में तो योग होता नहीं ।

कहाँ होता है ?

सूत्र में ।

वा० 'तेन प्रोक्तम्' (४।३।१०१॥) से होने वाले तद्धित भी न हो सकेंगे । पाणिनि से प्रोक्त को पाणिनीय कहते हैं, इसी तरह आपिशलि से प्रोक्त आपिशल और काशकृत्स्नि से प्रोक्त काशकृत्स्न कहलाता है । पर पाणिनि ने शब्दों का प्रवचन नहीं किया, सूत्र का किया है ।

ये दोनों बातें 'भव अर्थ में तद्धित', और 'प्रोक्त आदि अर्थों में तद्धित' क्यों

---

१. यहाँ यह मानकर आक्षेप किया गया है कि ल्युट् करण (और अधिकरण) में ही होता है ।

यश्च तद्धिता इत्येव भवेऽपि तद्धितश्चोदितः स्यात् ।

पुरस्तादिदमाचार्येण दृष्टं 'भवे च तद्धितः' इति पठितम् । तत उत्तरकालमिदं दृष्ट प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति, तदपि पठितम् । न चेदानीमाचार्याः सूत्राणि कृत्वा निवर्तयन्ति ।

अयं तावददोषः—यदुच्यते 'शब्दे ल्युडर्थ' इति । नावश्यं करणाधिकरणयोरेव ल्युड्विधीयते । किं तर्हि । अन्येष्वपि कारकेषु कृत्यल्युटो बहुलम् इति । तद्यथा—प्रस्कन्दनं प्रपतनमिति[1] ।

अथवा शब्दैरपि शब्दा व्याक्रियन्ते[2]—तद्यथा गौरित्युक्ते सर्वे सन्देहा निवर्तन्ते, नाश्वो न गर्दभ इति ।

अयं तर्हि दोषः—भवे प्रोक्तादयश्च तद्धिता इति ।

एवं तर्हि

कही जाती हैं? और प्रोक्त आदि तद्धित कहने से ही क्या 'भव' अर्थ में भी तद्धित प्रत्यय का आक्षेप न हो जायगा ?

पहले आचार्य की दृष्टि में 'भवे च तद्धितः' आया और उसे उन्होंने पढ़ दिया, पीछे उन्हों ने 'प्रोक्तादयश्च तद्धिताः' इसे देखा और इसे भी पढ़ दिया । अब आचार्य सूत्रों को पढ़कर नहीं हटाते हैं ।

जो कहा था कि शब्द 'अर्थ' होने पर शब्द में ल्युट् प्रत्यय का अर्थ न घटेगा । इसमें कोई दोष नहीं । करण तथा अधिकरण में ही ल्युट् प्रत्यय होता है इसमें कोई नियम नहीं । बहुत बार दूसरे कारकों के अर्थ में भी 'कृत्य' और ल्युट् देखे जाते हैं, जैसे प्रस्कन्दन, प्रपतन इत्यादि ।

अथवा शब्द भी दूसरे शब्दों का व्याख्यान करते हैं जैसे 'गो' कहने से सारे सन्देह निवृत्त हो जाते हैं, न घोड़ा है न गधा ।

यह एक दोष रह गया—उसमें होता है इस अर्थ में और प्रोक्त आदि तद्धित नहीं हो सकेंगे ।

तो इस अवस्था में ।

---

१. प्रपतति अस्माद् इति प्रपतनम् प्रपातः = भृगुः, अतटः, बिना ढलान के सीधी खड़ी हुई ऊँची चट्टान ।

२. व्याक्रिया से यहाँ भी पृथग्भाव (जुदा करना) अथवा प्रविभाग अर्थ विवक्षित है ।

लक्ष्यलक्षणे व्याकरणम्

लक्ष्यं च लक्षणं चैतत्समुदितं व्याकरणं भवति। किं पुनर्लक्ष्यम्, किं वा लक्षणम्। शब्दो लक्ष्यः, सूत्रं लक्षणम्। एवमप्ययं दोषः—समुदाये व्याकरण शब्दः प्रवृत्तोऽवयवे नोपपद्यते। सूत्राणि चाप्यधीयान इष्यते वैयाकरण इति। नैष दोषः। समुदायेषु हि शब्दाः प्रवृत्ता अवयवेष्वपि वर्तन्ते। तद्यथा—पूर्वे पञ्चालाः, उत्तरे पञ्चालाः, तैलं भुक्तम्, घृतं भुक्तम्, शुक्लो नीलः कपिलः, कृष्ण इति। एवमयं समुदाये व्याकरणशब्दः प्रवृत्तोऽवयवेष्वपि वर्तते।

अथवा पुनरस्तु सूत्रम्।

ननु चोक्तम्—सूत्रे व्याकरणे षष्ठ्यर्थोनुपपन्न इति। नैष दोषः। व्यपदेशिवद्भावेन[1] भविष्यति।

(वा०) लक्ष्य और लक्षण दोनों मिलकर 'व्याकरण' होता है। लक्ष्य क्या है और लक्षण क्या है। शब्द लक्ष्य है और सूत्र लक्षण है। ऐसा होने पर यह दोष बना रहेगा—समुदाय में प्रवृत्त होने वाला व्याकरण शब्द अवयव में प्रवृत्त न हो सकेगा। केवल सूत्रोंको पढ़नेवाले को भी वैयाकरण कहना इष्ट ही है। यह कोई दोष नहीं। समुदाय को कहनेवाले (जिनका समुदायत्व प्रवृत्ति-निमित्त है) शब्द अवयव अर्थ में भी प्रयुक्त होते हैं, जैसे पञ्चाल के पूर्वभाग को पूर्वपञ्चाल कहते हैं, उत्तर भाग को उत्तरपञ्चाल, औषध आदि में संस्कृत तैल और घृत की मात्रा को लक्ष्य करके कहने की रीति है—(मैंने) तेल खाया, (मैंने) घी खाया। वस्त्र आदि के एक देश के शुक्ल, नील, कपिल, कृष्ण आदि होने पर कहा जाता है वस्त्र आदि शुक्ल, नील, कपिल अथवा कृष्ण है। इसी प्रकार यह व्याकरण शब्द समुदाय का वाचक होता हुआ भी अवयवों को भी कहने में प्रवृत्त होता है।

अथवा व्याकरण का सूत्र अर्थ ही रहे, जैसे पहले कहा गया है।

अजी, वहाँ यह भी तो कहा था कि सूत्र अर्थ होने पर व्याकरण से षष्ठी विभक्ति संगत न होगी। यह कोई दोष नहीं। मुख्य के साथ जैसा व्यवहार होता है गौण (कल्पित) के साथ भी वैसा व्यवहार होता है इस न्याय से षष्ठी विभक्ति की संगति लग जायगी।

१—व्यपदेशिवद्भावेन—जिस पदार्थ का किन्हीं निमित्तों के कारण एक विशिष्ट मुख्य नाम (व्यपदेश) होता है जिससे उसे कहा जाता है उसे व्यपदेशी कहते हैं, पर उन निमित्तों की अनुपस्थिति में भी एक अकेले पदार्थ से व्यपदेशी के तुल्य (जैसे व्यपदेशी से) शास्त्र में कहे हुए कार्य किये जाते हैं। इस अतिदेश को व्यपदेशिवद्भाव कहते हैं। अत इञ् (४।१।९५) से अदन्त प्रातिपदिक (सुबन्त बनाकर)

यदप्युच्यते "शब्दाप्रतिपत्तिरिति"। न हि सूत्रत एव शब्दान् प्रतिपद्यन्ते। किन्तर्हि व्याख्यानतश्चेति। परिहृतमेतत्--तदेव सूत्रं विगृहीतं व्याख्यानं भवतीति। ननु चोक्तम् - न केवलानि चर्चापदानि व्याख्यानम् – वृद्धिः, आत्, ऐजिति। किन्तर्हि। उदाहरणं प्रत्युदाहरणं वाक्याध्याहार इत्येतत्समुदितं व्याख्यानं भवतीति। अविजानत एतदेवं भवति। सूत्रत एव हि शब्दान्प्रतिपद्यन्ते। आतश्च सूत्रत एव। यो ह्युत्सूत्रं कथयेन्नादो गृह्येत।

Question

अथ किमर्थो वर्णानामुपदेशः।

वृत्तिसमवायार्थ उपदेशः

वृत्तिसमवायार्थो वर्णानामुपदेशः। किमिदं वृत्तिसमवायार्थ इति। वृत्तये समवायो वृत्तिसमवायः। वृत्त्यर्थो वा समवायो वृत्तिसमवायः। वृत्तिप्रयोजनो वा समवायो वृत्तिसमवायः। का पुनर्वृत्तिः। शास्त्र-

---

और जो कहा था कि सूत्र अर्थ होने पर शब्दों का बोध न हो पायेगा, क्योंकि (केवल) सूत्र से शब्दों को नहीं जानते हैं किन्तु व्याख्यान से भी। इस दोष का परिहार किया जा चुका जब यह कहा गया कि वही सूत्र पदच्छेद से व्याख्यान बन जाता है। अजी यह भी तो कहा गया था---केवल विभाग करके पढ़े हुए पद व्याख्यान नहीं हो जाते—वृद्धिः, आत्, ऐच्,। तो क्या ? उदाहरण, प्रत्युदाहरण, वाक्याध्याहार—यह सब मिलजुल कर व्याख्यान होता है। न जाननेवाले के लिये ऐसा होता है, सूत्र से ही शब्दों को जानते हैं। और इस हेतु से भी सूत्र से ही 'जानते हैं'—जो भी सूत्र का अतिक्रम करके कहेगा, वह उसका वचन न माना जायगा।

अब यह विचार्य है कि वर्णों का उपदेश किस लिये किया गया है।

(वा०) वृत्ति समवाय के लिये वर्णों का उपदेश है।

वृत्ति समवाय क्या चीज है ?

वृत्ति के लिये समवाय वृत्तिसमवाय है, वृत्ति का उपकारक समवाय वृत्ति समवाय है अथवा वृत्ति का प्रयोजक समवाय वृत्ति समवाय है।

से अपत्य अर्थ में इञ् प्रत्यय का विधान है, सो अदन्त दक्ष से इञ् होकर 'दाक्षि' सिद्ध होता है। अब 'अ' अन्त में होने से 'दक्ष' शब्द का 'अदन्त' यह व्यपदेश (विशिष्ट-अपदेश) है, सो यह इस व्यपदेशवाला अथवा व्यपदेशी है, पर 'अ' (=विष्णु) तो असहाय अकेला है, इसे 'अदन्त' इस व्यपदेश वाला अर्थात् व्यपदेशी तो नहीं कहा जा सकता, तो भी जहाँ तक शास्त्र कार्य का सम्बन्ध है इससे भी व्यपदेशी का सा व्यवहार किया जाता है। अस्यापत्यम् इः। इञ् प्रत्यय होता है। भाष्यकार 'आद्यन्तवदेकस्मिन्' (१।१।२०) के स्थान पर व्यपदेशिवदेकस्मिन् ऐसा न्यास चाहते हैं।

प्रवृत्तिः[1] । अथ कः समवायः । वर्णानामानुपूर्व्येण संनिवेशः । अथ क उपदेशः । उच्चारणम् । कुत एतत् । दिशिरुच्चारणक्रियः । उच्चार्य हि वर्णानाह—उपदिष्टा इमे वर्णा इति ।

अनुबन्धकरणार्थश्च

अनुबन्धकरणार्थश्च वर्णानामुपदेशः—अनुबन्धानासङ्क्ष्यामीति । न ह्यनुपदिश्य वर्णाननुबन्धाः शक्या आसङ्क्तुम् । स एष वर्णानामुपदेशो वृत्तिसमवायार्थश्चानुबन्धकरणार्थश्च । वृत्तिसमवायश्चानुबन्धकरणं च प्रत्याहारार्थम् । प्रत्याहारो वृत्त्यर्थः ।

इष्टबुद्ध्यर्थश्च

इष्टबुद्ध्यर्थश्च वर्णानामुपदेशः—इष्टान्वर्णान्भोत्स्यामहे[2] इति । न

वृत्ति क्या चीज़ है ?

शास्त्र की प्रवृत्ति ।

समवाय क्या पदार्थ है ?

वर्णों का क्रम से रखना ।

उपदेश क्या है ?

उच्चारण ।

यह कैसे ?

दिश् धातु उच्चारणार्थक है । उच्चारण करके ही तो कहता है इन वर्णों का उपदेश हो गया ।

(वा०) अनुबन्ध लगाने के लिये भी ।

अनुबन्ध लगाने के लिये भी वर्णों का उपदेश किया है—मैं अनुबन्धों को लगाऊँगा । पर वर्णों का उच्चारण किये विना अनुबन्ध लगाए नहीं जा सकते । सो यह वर्णों का उपदेश वृत्ति-समवाय (=शास्त्र-प्रवृत्ति) के लिये भी है और अनुबन्ध लगाने के लिये भी । वृत्तिसमवाय और अनुबन्ध लगाना प्रत्याहार बनाने के लिये है । प्रत्याहार शास्त्र की प्रवृत्ति के लिये है ।

(वा०) इष्ट (वर्णों) के बोधन के लिये भी ।

इष्ट वर्णों के बोध के लिये भी वर्णों का उपदेश किया है, हम इष्ट वर्णों को

---

१. वर्ण समाम्नाय के होनेपर अच् आदि संज्ञाओं की सिद्धि होने से थोड़े में ही शास्त्र की प्रवृत्ति हो सकेगी और 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' (१।१।४५) आदि यथासङ्ख्य संज्ञा भी हो सकेगी ।

२. भोत्स्यामहे=बोधयिष्यामः । यहाँ णिच् का अर्थ अन्तर्भूत है, प्रत्यय से नहीं कहा गया ।

ह्यनुपदिश्य वर्णानिष्टा वर्णाः शक्या विज्ञातुम् ।

इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः

इष्टबुद्ध्यर्थश्चेति चेदुदात्तानुदात्तस्वरितानुनासिकदीर्घप्लुतानामप्युपदेशः कर्तव्यः । एवंगुणा अपि हि वर्णा इष्यन्ते ।

आकृत्युपदेशात्सिद्धम्

अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति । तथेवर्णाकृतिः । तथोवर्णाकृतिः ।

आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधः ॥

आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेधो वक्तव्यः । के पुनः संवृतादयः । संवृतः[2] कलो ध्मात एणीकृतोऽम्बूकृतोऽर्द्धको ग्रस्तो निरस्तः प्रगीत

जानेंगे इसलिये । क्योंकि बिना उपदेश किये इष्ट वर्ण जाने नहीं जा सकते ।

(वा०) इष्टवर्णों के बोध के लिये यदि वर्णों का उपदेश मानते हो तो उदात्त, अनुदात्त, स्वरित, अनुनासिक, दीर्घ-प्लुत—इनका भी उपदेश करना चाहिये ।

इन गुणोंवाले वर्ण भी इष्ट ही हैं ।

(वा०) जातिपरक निर्देश होने से इष्टसिद्धि हो जायगी । 'अत्व' जाति का उपदेश होने से सभी प्रकार की 'अ' व्यक्तियों का ग्रहण (बोध) हो जायगा । इसी प्रकार 'इत्व' जाति का और 'उत्व' जाति का उपदेश सभी प्रकार के इवर्ण और उवर्ण का ग्रहण करा देगा ।

(वा०) आकृति उपदेश से यदि इष्टसिद्धि मानते हो तो संवृत आदि (दोषों) का प्रतिषेध करना चाहिये ।

तो संवृत आदि कौन से हैं ?

संवृत, कल, ध्मात, एणीकृत, अम्बूकृत, अर्धक, ग्रस्त, निरस्त, प्रगीत, उपगीत,

---

१. प्रत्याहारसूत्रों में के अ इ उ आदि अचों का एकश्रुति से पाठ होने से यह प्रश्न है ।

२. संवृत आदि स्वरों के उच्चारण में दोष परिगणित किये हैं । 'संवृत' 'अ' का तो गुण ही है, शेष स्वरों के विषय में दोष रहेगा । जिह्वामूल की कण्ठ के समीप स्थिति होनेसे संवृतता नामक गुण ह्रस्व 'अ' में आता है । कल =अपने स्थान को छोड़ दूसरे स्थान से उच्चारित होना, जिसे काकली कहते हैं । ध्मात—जब श्वास की अधिकता से ह्रस्व भी दीर्घ झलकता है । एणीकृत—साधारण रूप, जहाँ यह सन्देह हो

उपगीतः क्ष्विण्णो रोमश इति । अपर आह—

ग्रस्तं निरस्तमवलम्बितं निर्हतमम्बूकृतं ध्मातमथो विकम्पितम् ।
सन्दष्टमेणीकृतमर्धकं द्रुतं विकीर्णमेताः स्वरदोषभावनाः ॥ इति ।

अतोऽन्ये व्यञ्जनदोषाः ।

नैष दोषः ।

गर्गादिबिदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिः ॥

गर्गादि बिदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यति ।

अस्त्यन्यद् गर्गादिबिदादि पाठे प्रयोजनम् । किम् । समुदायानां[1] साधुत्वं

क्ष्विण्ण और रोमश । दूसरा कोई (वृत्तिकार) कहता है—ग्रस्त, निरस्त, अविलम्बित, निर्हत, अम्बूकृत, ध्मात विकम्पित, सन्दष्ट, एणीकृत, अर्धक, द्रुत और विकीर्ण—ये स्वर दोष हैं । इनसे भिन्न व्यञ्जनोच्चारण के दोष हैं ।

(वा०) गर्गादि गण तथा बिदादि गण-पाठ से (अनिष्ट) संवृत आदि की निवृत्ति हो जायगी ।

गर्गादि, बिदादि पाठ का तो और प्रयोजन है । क्या ?

कि इसने 'ओ' का उच्चारण किया अथवा 'औ' का । अम्बूकृत—जो व्यक्त होता हुआ भी मुँह के अन्दर उच्चारित हुआ सा सुनता है । अर्धक—जो दीर्घ भी ह्रस्व प्रतीत होता है । ग्रस्त—जो जिह्वामूल में निगृहीत, अव्यक्त । निरस्त—निष्ठुर (कर्कश) अथवा मतान्तर में त्वरित । प्रगीत—साम की तरह गाकर उच्चारण किया हुआ । उपगीत—समीप में दूसरे वर्ण के गाने से अनुरक्त । क्ष्विण्ण—कम्प युक्त । रोमश—गम्भीर । अविलम्बित—वर्णान्तर से मिला हुआ । निर्हत—रूक्ष । सन्दष्ट—बढ़ाकर उच्चारण किया हुआ । विकीर्ण—आगे आनेवाले दूसरे वर्ण में जा मिला हुआ अथवा एक होता हुआ भी जो अनेक भासता हो ।

१. 'समुदाय' से यहाँ गर्ग आदि समुदाय अभिप्रेत हैं । जहाँ इनके गण पाठ में उपदेश से विशिष्टवर्णानुपूर्वी का साधुत्व ज्ञात होता है वहाँ इनके अन्तर्गत अकार आदि में कलादि दोषों की शून्यता भी प्रतीत होती है । क्योंकि आचार्य ने इन्हें शुद्ध ही पढ़ा है, पर इतने से गार्ग्य आदि अन्य समुदायों में वर्तमान अकार आदि के कल आदि दोषोंकी निवृत्ति न हो सकेगी—ऐसा कैयट के अनुसार अर्थ है । नागेश इससे विपरीत अर्थ लेते हैं । उनका कहना है कि गर्ग आदि के गण में पाठ का प्रयोजन गर्ग आदि प्रकृतियों से यञ् आदि प्रत्यय करके निष्पन्न गार्ग्य आदि समुदायों का साधुत्व बताना है, इस में चरितार्थ हुआ गर्गादि पाठ संवृत आदि दोषों की निवृत्ति न कर सकेगा ।

यथा स्यादिति । एवं तर्ह्यष्टादशधा भिन्नां निवृत्तकलादिकामवर्णस्य प्रत्यापत्तिं वक्ष्यामि । सा तर्हि वक्तव्या ।

लिङ्गार्था तु प्रत्यापत्तिः ॥

लिङ्गार्था सा तर्हि भवति । तत्तर्हि वक्तव्यम् । [1]यद्यप्येतदुच्यते, अथ[2] वैतर्हि अनेकमनुबन्धशतं नोच्चार्यमित्संज्ञा च न वक्तव्या, लोपश्च न वक्तव्यः । यदनुबन्धैः[3] क्रियते तत्कलादिभिः करिष्यते ।

(गर्गादि) समुदायों का साधुत्व हो इसलिये ।

ऐसी अवस्था में जैसे कलादिदोष रहित अठारह प्रकार के 'अ' की शास्त्र के अन्त में प्रत्यापत्ति (= पुनः स्वरूप प्राप्ति) कही है वैसे ही 'इ', 'उ' आदि के विषय में भी कह दूँगा ।

तो यह प्रत्यापत्ति तुम्हें कहनी पड़ेगी (अर्थात् इससे गौरव दोष आयगा) ।

(वा०) कलादि-दोषरूप लिङ्गों की निवृत्ति के लिये भी प्रत्यापत्ति रहेगी (और इससे अनुबन्धों के स्थान में इन दोषों को लिङ्ग स्वीकार करने से अनुबन्धों की भी निवृत्ति हो जायगी, जिससे कुछ भी गौरव नहीं होगा) ।

तब धातु आदि में कलादि लिङ्ग कर दिये जायँ । जब यह कहा जाय तो सैंकड़ों अनुबन्ध नहीं लगाने पड़ेंगे, इत्संज्ञा भी नहीं करनी होगी, (इत्संज्ञक का) लोप भी नहीं कहना पड़ेगा । जो कार्य अनुबन्धों द्वारा होता है वह (सब) कलादि लिङ्गों द्वारा किया जायगा ।

---

१. यद्यपि = यदा, जब ।

२. अथवैतर्हि = तदा, तब ।

३. जैसे अधिकार सूचित करने के लिये स्वरित चिह्न कर दिया जाता है, वैसे ही आत्मनेपद के लिये एध शीङ् आदि धातुओं को अनुदात्तेत् और ङित् न पढ़कर कल दोषयुक्त पढ़ दिया जायगा । 'कलादात्मनेपदम्' ऐसा सूत्र-न्यास कर दिया जायगा । इसी प्रकार स्वरितेत् तथा ञित् धातुओं को 'ध्मात' दोषयुक्त पढ़ दिया जायगा । तब ध्मातात्कर्तृगामिनि क्रियाफले—ऐसा सूत्र-न्यास होगा । ये कलादि दोष लिङ्ग-रूप से आसक्त किये गये प्रक्रिया दशा में श्रूयमाण होंगे, प्रयोग में तो अकार आदि शुद्ध ही होंगे, क्योंकि शास्त्र के अन्त में प्रत्यापत्ति कह दी गई है ।

सिध्यत्येवम्, 'अपाणिनीयं तु भवति। यथान्यासमेवास्तु। ननु चोक्तम्—आकृत्युपदेशात्सिद्धमिति चेत्संवृतादीनां प्रतिषेध इति। परिहृतमेतत्—गर्गादिबिदादिपाठात्संवृतादीनां निवृत्तिर्भविष्यतीति। ननु चान्यद् गर्गादिबिदादिपाठे प्रयोजनम्। किम्। समुदायानां साधुत्वं यथा स्यादिति। एवं तद्युभयमनेन क्रियते—पाठश्चैव विशेष्यते, कलादयश्च निवर्त्यन्ते। कथं पुनरेकेन यत्नेनोभयं लभ्यम्। लभ्यमित्याह। कथम्। द्विगता अपि हेतवो भवन्ति। तद्यथा आम्राश्च सिक्ताः पितरश्च प्रीणिता इति। तथा वाक्यानि

हाँ इस तरह भी इष्ट सिद्धि हो जायगी, पर यह पाणिनीय शास्त्र के प्रतिकूल होगा। तो आकृत्युपदेशात् सिद्धम्—यह जो कहा था, वही ठीक है। अजी वही ठीक कैसे? उसके मानने से तो प्रसक्त हुए संवृत आदि दोषों का निषेध करना चाहिये ऐसा कहा था। पर उसका उत्तर दिया जा चुका जब यह कहा गया—गर्गादि, बिदादि गण पाठ से संवृत आदि (दोषों) की निवृत्ति हो जायगी। अजी वहाँ यह भी तो कहा गया था कि गर्गादि, बिदादिगण-पाठ का दूसरा प्रयोजन है। क्या? (गर्गादि) समुदायों की साधुता जिससे हो। अच्छा तो गर्गादि बिदादि पाठ से दोनों कार्य किये जाते हैं—पाठ भी विशिष्ट होता है (इस-इस आनुपूर्वी-विशेष वाले गर्ग आदि प्रातिपदिकों से यञ् प्रत्यय हो औरों से न हो) और कल आदि दोष भी निवृत्त किये जाते हैं[२]।

पर क्या एक ही यत्न से दो फलों की प्राप्ति हो सकती है?

हाँ, हो सकती है।

कैसे?

कुछ हेतु ऐसे होते हैं जो दो प्रयोजनों को सिद्ध करते हैं। (जैसे जब आम्र-वृक्ष के मूल में बैठा हुआ मनुष्य पितृतर्पण करता है) तो आमों का सेचन भी हो जाता है और पितरों की तृप्ति भी। इसी प्रकार वाक्य भी द्व्यर्थक होते हैं—'श्वेतो

१. वर्ण समाम्नाय का समर्थन करते हुए जब यह कहा कि इसमें अचों और हलों का जातिपरक निर्देश है, तब संवृत (अकार में यह दोष नहीं प्रत्युत गुण ही है) आदि दोष अतिप्रसक्त हुआ, इसके वारण के लिये गौरव-युक्त व्याख्यानसापेक्ष इस प्रकार समस्त शास्त्र के अन्यथाकरण (अदल बदल) में वृश्चिक विषभीतः सर्पेण दष्टः (बिच्छू के विष से भागे हुए को साँप ने डसा) यह न्याय लागू होता है।

२. गर्ग आदि गण-पठित प्रातिपदिकों के अकारादि तो आचार्य के उच्चारण से दोष-शून्य ही हैं, अपठित प्रातिपदिकों के अकारादि भी ऐसे ही शुद्ध जानने चाहिये, यह अभिप्राय है।

द्विष्ठानि भवन्ति—श्वेतो धावति, अलम्बुसानां यातेति।

अथवा इदं तावदयं प्रष्टव्यः—क्वेमे संवृतादयः श्रूयेरन्निति। आगमेषु। आगमाः शुद्धाः पठ्यन्ते। विकारेषु तर्हि। विकारा अपि शुद्धाः पठ्यन्ते। प्रत्ययेषु तर्हि। प्रत्यया अपि शुद्धाः पठ्यन्ते। धातुषु तर्हि। धातवोपि शुद्धाः पठ्यन्ते। प्रातिपदिकेषु तर्हि। प्रातिपदिकान्यपि शुद्धानि पठ्यन्ते। यानि तर्ह्यग्रहणानि प्रातिपदिकानि। एतेषामपि स्वरवर्णानुपूर्वीज्ञानार्थं उपदेशः कर्तव्यः। शशः षष इति मा भूत्। पलाशः पलाष इति मा भूत्। मञ्चको मञ्जक इति मा भूत्।

आगमाश्च विकाराश्च प्रत्ययाः सह धातुभिः।
उच्चार्यन्ते ततस्तेषु नेमे प्राप्ताः कलादयः॥

इति प्रथमं पस्पशाह्निकम्॥

धावति' इस वाक्य के दो अर्थ हैं—कुत्ता यहाँ से दौड़ता है, श्वेत गुण वाला दौड़ता है। 'अलम्बुसानां याता' इस वाक्य के भी दो अर्थ हैं—अलम्बुस नामक देश को जाने वाला, बुसों को प्राप्त करने वाला समर्थ है।

अथवा इससे (आकृत्युपदेश से संवृतादि दोषों की प्रसक्ति बतानेवाले से) हम पूछते हैं कि ये संवृतादि कहाँ सुने जा सकते हैं। यदि कहो आगमों में। आगम तो (आचार्य ने) शुद्ध पढ़े हैं। तो विकारों (आदेशों) में सही। विकार (आदेश) भी शुद्ध पढ़े हैं। तो प्रत्ययों में। प्रत्यय भी शुद्ध पढ़े हैं। तो धातुओं में। धातु भी शुद्ध पढ़े हैं। तो प्रातिपदिकों में। प्रातिपदिक भी शुद्ध पढ़े हैं। तो फिर जिन प्रातिपदिकों का विधिवाक्यों में उद्देश नहीं किया है (उनमें)। उनका भी स्वर और वर्णानुपूर्वी के ज्ञान के लिये सङ्ग्रह इष्ट है, ताकि शश के स्थानमें षष, पलाश के स्थान में पलाष, मञ्चक के स्थान में मञ्जक न हो।

आगम, आदेश, प्रत्यय और धातु—ये सभी शुद्ध उच्चारण किये हैं, अतः इन कलादि दोषों का प्रसङ्ग ही नहीं॥

अथ द्वितीयाह्निकम् ।

अ इ उ ण् ॥ १ ॥

अकारस्य विवृतोपदेश आकारग्रहणार्थः ॥ १ ॥

अकारस्य [1]विवृतोपदेशः कर्तव्यः। किं प्रयोजनम्। आकारग्रहणार्थः। अकारः सवर्णग्रहणेनाकारमपि यथा गृह्णीयात्। किं च कारणं न गृह्णीयात्। विवारभेदात्। किमुच्यते विवारभेदादिति, न पुनः कालभेदादपि। यथैव ह्ययं विवारभिन्नः, एवं कालभिन्नोपि। सत्यमेव तत्। वक्ष्यति—तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् इत्यत्रास्यग्रहणस्य प्रयोजनम्—आस्ये येषां तुल्यो देशः प्रयत्नश्च

अ इ उ ण् ॥ १ ॥

(वा०) अकार का विवृत उपदेश करना चाहिये, आकार के ग्रहण के लिये।

अकार का विवृत उपदेश करना चाहिये। क्या प्रयोजन है? आकार के ग्रहण (बोधन) के लिये। ताकि अकार अपने सवर्ण के ग्रहणद्वारा आकार का भी ग्रहण कराये। क्या कारण है कि ग्रहण नहीं करायेगा? विवृत-प्रयत्न रूप भेद से। विवृत-प्रयत्न-भेद से—ऐसा क्यों कहते हो, कालभेद से भी—ऐसा क्यों नहीं? यह ठीक है, पर आचार्य तुल्यास्यप्रयत्नं सवर्णम् इस सूत्र में आस्य-ग्रहण का प्रयोजन बताते हुए कहेंगे—जिनके आस्य (मुख) में स्थान और प्रयत्न समान हैं वे (आपस में) सवर्णसंज्ञक होते हैं। काल तो आस्य से बाहर है। अतः काल-भेद होते हुए भी अकार आकार का ग्रहण करा देगा, पर विवृतरूप प्रयत्नभेद के कारण नहीं करा सकेगा।

१—अकार लोक में संवृत ही है, पर शास्त्र प्रक्रिया में जब तक इसे विवृत न माना जाय, काम नहीं चल सकता। प्रयत्न भेद के कारण 'अ' और 'आ' को सवर्ण संज्ञा न होगी, और इस लिये। अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६९) इस ग्रहणक शास्त्र की प्रवृत्ति न होने से 'अस्य च्वौ' (७।४।३२) इत्यादि में 'अ' से 'आ' का ग्रहण (बोध) नहीं होगा। जिससे गङ्गी भवति इत्यादि रूप की सिद्धि न होगी।

ते सवर्णसंज्ञा भवन्तीति । बाह्यश्च पुनरास्यात्कालः[1] । तेन स्यादेव कालभिन्नस्य ग्रहणम्, न पुनर्विवारभिन्नस्य ।

किं पुनरिदं विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते, आहोस्वित्संवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यते । विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायते । कथं ज्ञायते । यदयम्—अ अ इति[2] इत्यकारस्य विवृतस्य संवृतताप्रत्यापत्तिं शास्ति ।

नैतदस्ति ज्ञापकम् । अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम् ।

किम् । अतिखट्वः, अतिमाल इत्यत्रान्तर्यतो विवृतस्य विवृतः प्राप्नोति, संवृतः

यहाँ क्या समझा जाय—क्या किये हुए विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है अथवा संवृतोच्चारण के स्थान में विवृतोच्चारण करना चाहिये यह कहा जा रहा है ? किये हुए विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है । यह कैसे जाना जाय ? इससे कि आचार्य (शास्त्र के अन्त में) 'अ अ इति' सूत्र के द्वारा विवृत अकार को पुनः संवृत गुण की प्राप्ति का विधान करते हैं ।

यह कोई इस बात का ज्ञापक नहीं । 'अ अ इति' इस वचन का कोई और प्रयोजन है ।

क्या ?

अतिखट्वः, अतिमालः यहाँ सदृशतम आदेश विवृत के स्थान में विवृत प्राप्त

१—काल के विषय में कई मत हैं, पर मुख्य दो हैं—(१) क्रिया ही काल है । (२) क्रिया से अतिरिक्त क्षण समूह काल है । किसी वस्तु के अन्दर होनेवाली क्रिया को दूसरी वस्तु की क्रिया परिच्छिन्न करती है । यहाँ दूसरी बाह्य वस्तु की अपेक्षा करने से काल को बाह्य कहा गया है । जैसे निमेष आदि क्रिया के भेद से मात्रा आदि काल कहा जाता है ।

अथवा नाभि प्रदेश में ही किये गये विशिष्ट प्रयत्न (वायु की अल्पता, अधिकता) से ह्रस्व, दीर्घ रूप काल की अभिव्यक्ति होने से और नाभि आस्य (मुख) से बाह्य है इस कारण से भी काल को बाह्य कहा है ।

२—यह अष्टाध्यायी का अन्तिम सूत्र है । इसमें प्रथम 'अ' उद्देश्य है और द्वितीय विधेय है । अर्थ यह है कि अभी तक प्रक्रिया (प्रयोग साधना) के निमित्त इस अष्टाध्यायी शास्त्र में जो ह्रस्व 'अ' विवृत माना गया था, वह प्रयोग-दशा में सर्वत्र संवृत होता है ऐसा समझना चाहिये । इसी लिये पूर्व के विवृत होने से और उससे उत्तरवर्ती द्वितीय 'अ' के संवृत होने से प्रयत्नभेद के कारण सवर्ण दीर्घ एकादेश नहीं हुआ ।

स्यादित्येवमर्था प्रत्यापत्तिः[1]। नैतदस्ति। नैव लोके न च वेदेऽकारो विवृतोस्ति। कस्तर्हि। संवृतः। योस्ति स भविष्यति। तदेतत्प्रत्यापत्तिवचनं ज्ञापकमेव भविष्यति विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायत इति। कः पुनरत्र विशेषः। विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायेत, संवृतस्योपदिश्यमानस्य वा विवृतोपदेशश्चोद्येतेति। न खलु कश्चिद्विशेषः। आहोपुरुषिकामात्रं[2] तु। भवानाह—संवृतस्योपदिश्यमानस्य विवृतोपदेशश्चोद्यत इति। वयं तु ब्रूमो—विवृतस्योपदिश्यमानस्य प्रयोजनमन्वाख्यायत इति।

तस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि[3] विवृतोपदेशः सवर्णग्रहणार्थः ॥२॥

होता है, संवृत हो, अतः आचार्य ने प्रत्यापत्ति का विधान किया है। नहीं, ऐसा नहीं। न तो लोक में और नाहीं वेद में 'अकार' कहीं विवृत है।

तो कैसा ?

संवृत। जो है वही वो (आदेशरूप में) होगा।

इसलिये यह 'अ अ इति' रूप प्रत्यापत्ति का शासन इस बात का ज्ञापक ही रहेगा कि किये गये विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है।

इसमें क्या भेद है—किये गये विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है ऐसा मानें अथवा संवृतोच्चारण किये गये के स्थान में विवृतोच्चारण करना चाहिये ऐसा ?

कुछ भी भेद नहीं। अभिमानमात्र है। आप कहते हैं—किये गये संवृतोच्चारण के स्थान में विवृतोच्चारण करना चाहिये, हम कहते हैं—किये गये विवृतोच्चारण का प्रयोजन बताया जा रहा है।

(वा०) इस अकार का यहाँ (प्रत्याहार सूत्र में) विवृतोपदेश से अन्यत्र भी विवृतोपदेश करना चाहिये, सवर्ण-ग्रहण के लिये।

१—ज्ञापक का खण्डन करने के लिये कहते हैं कि इस अ अ रूप प्रत्यापत्ति का और प्रयोजन है और प्रयोजन रहते ज्ञापक नहीं होता। प्रयोजन यह है कि 'अतिखट्वः' आदि प्रयोगों में जहाँ गो स्त्रियोरुपसर्जनस्य (१।२।४८) से दीर्घ आकार को ह्रस्व होता है, वहाँ वह ह्रस्व संवृत हो, स्थानी आ के विवृत होने से आन्तरतम्य (सदृशतम होने से) उसके स्थान में ह्रस्व 'अ' विवृत न हो जाय। अतः अकार का आचार्य ने विवृत-गुण-युक्त उपदेश किया है इसमें कोई ज्ञापक नहीं।

२—अहो अहं पुरुष इत्यहोपुरुषः मयूरव्यंसकादि समासः। तस्य भाव आहोपुरुषिका। मनोज्ञादि होने से वुञ्। अर्थ—अहंकार।

३—अन्यत्र—धातु आदि में। पढ़े हुए धातु आदि का अकार जो कि (व्यक्ति पक्ष में उच्चारण में वर्णभेद होने से) अक्षरसमाम्नाय वाले अकार से

तस्यैतस्याक्षरसमाम्नायिकस्य विवृतोपदेशादन्यत्रापि विवृतोपदेशः कर्तव्यः। क्वाऽन्यत्र । धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातस्थस्य । किं प्रयोजनम् । सवर्णग्रहणार्थः । आक्षरसमाम्नायिकेनाऽस्य ग्रहणं यथा स्यात् । किं च कारणं न स्यात् । विवारभेदादेव । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवत्याक्षरसमाम्नायिकेन धात्वादिस्थस्य ग्रहणमिति । यदयम्—'अकः सवर्णे दीर्घः' इति प्रत्याहारेऽको' ग्रहणं करोति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । न हि द्वयोराक्षरसमाम्नायिकयोर्युगपत्समवस्थानमस्ति । नैतदस्ति ज्ञापकम् ।

इस अकार का जैसे अक्षरसमाम्नाय में विवृतोच्चारण है वैसे ही अन्यत्र भी करना चाहिये ।

अन्यत्र कहाँ ?

धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय तथा निपात में श्रूयमाण अकार का ।

क्या प्रयोजन ?

सवर्ण ग्रहण के लिये ।

अक्षर समाम्नाय वाला अकार इस दूसरे अकार का ग्रहण करा सके ।

किस कारण ग्रहण नहीं करा सकता ?

विवृतरूप प्रयत्न भेदसे ।

आचार्य का व्यवहार ज्ञापन करता है कि अक्षरसमाम्नाय वाला (विवृत) अकार धातु आदि में वर्तमान (संवृत) अकार का ग्रहण कराता ही है। क्यों कि आचार्य 'अकः सवर्णे दीर्घः' इस सूत्र में प्रत्याहार के रूप में अक् का ग्रहण करता है ।

यह कैसे ज्ञापक बनता है ?

अक्षर समाम्नाय-स्थित दो अकारों की एक ही काल में सह-स्थिति का संभव नहीं ।

यह कोई ज्ञापक नहीं ।

विवृत प्रयत्न भेदसे

भिन्न है, उसके विषय में भी विवृतत्व की प्रतिज्ञा करनी चाहिये, क्योंकि वह आचार्य ने संवृत ही पढ़ा है ।

१—अक्षर समाम्नाय के अकार का विवृतोपदेश होने पर भी (व्यक्तिपक्ष में) तद्भिन्न प्रयोगस्थ 'अ' तो संवृत ही रहा, प्रयत्न-भेद के कारण अक्षरसमाम्नायस्थ 'अ' इसका ग्रहण न करा सकेगा, सो इसे भी कार्यार्थ विवृत कहना चाहिये । इस पर कहते हैं कि एक लौकिक प्रयोग में एक साथ दो तो क्या एक भी अक्षर समाम्नायस्थ 'अ' दुर्लभ है, पर आचार्य ने अकः सवर्णे दीर्घः (६।१।१०१) सूत्र में 'अ' से प्रारम्भ

अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्। यस्याक्षरसमाम्नायिकेन ग्रहणमस्ति तदर्थमेतत्स्यात्—खट्वाऽऽढकम्, मालाऽऽढकमिति। सति प्रयोजने न ज्ञापकं भवति। तस्माद्विवृतोपदेशः कर्तव्यः। क एष यत्नश्चोद्यते विवृतोपदेशो नाम। विवृतो वोपदिश्येत संवृतो वा। को न्वत्र विशेषः। स एष सर्व एवमर्थो यत्नः क्रियते—यान्येतानि प्रातिपदिकान्यग्रहणानि तेषामेतेनाभ्युपायेनोपदेशश्चोद्यते, तद् गुरु भवति। तस्माद् वक्तव्यं धात्वादिस्थश्च विवृत इति।

दीर्घप्लुतवचने च संवृतनिवृत्त्यर्थः ॥ ३ ॥

इस (अकः सवर्णे दीर्घः) वचन का कोई और प्रयोजन है।

क्या ?

जिस ('आ') का इस अक्षर-समाम्नाय वाले ह्रस्व (विवृत) 'अ' से (सवर्णता के कारण) ग्रहण होता है उसके लिये यह अक् ग्रहण चरितार्थ है। (जैसे) खट्वाढकम्, मालाढकम् (यहाँ खट्वा आढकम्, माला आढकम् दो (विवृत-अत एव सवर्ण) आकारों के स्थान में सवर्ण दीर्घ एकादेश हुआ)। जब प्रयोजन सिद्ध होता हो, तो ज्ञापक नहीं बनता। इस लिये धातु आदि में का अकार विवृतोच्चारण करना चाहिये।

विवृत उच्चारण करना चाहिये इसमें वार्तिककार का क्या अभिप्राय है ?

सूत्र अथवा गणों में पढ़े हुए धातु आदि में आये हुए सभी अवर्णों को आचार्य पाणिनि विवृत पढ़ देंगे, विवृत पढ़ें अथवा संवृत, प्रयास का तारतम्य कुछ भी न होने से गौरव-लाघव कुछ भी नहीं। सो यह यत्न इस लिये किया जा रहा है कि जिन शश, पलाश, मञ्चक आदि प्रातिपदिकों को किसी सूत्र व गण में नहीं पढ़ा है उनके भी अकार का इस उपाय से विवृत उच्चारण विधान किया जा रहा है, अन्यथा स्वतन्त्र-रूप से पृथक्-पृथक् उनका उच्चारण करने से गौरव होता। इस लिये (लाघव के लिये) धातु आदि में के अकार का विवृत उच्चारण करना चाहिये ऐसा वचन अपेक्षित है।

(वा०) दीर्घ और प्लुत (आदेश) विधान में भी संवृत की निवृत्ति के लिये धातु आदि में वर्तमान 'अ' का विवृत उपदेश करना चाहिये।

करके अक् प्रत्याहार पढ़ा है। अक् का 'अ' अक्षरसमाम्नायस्थ 'अ' है ककार रूप चिह्न के होने से, सो यह प्रतिज्ञा से विवृत है। इसका धात्वादिस्थ 'अ' सवर्ण तभी हो सकता है जब कि वह भी इसी प्रकार विवृत हो। यदि वह आचार्य को विवृत अभिप्रेत नहीं था, तो अक् प्रत्याहार के स्थान में इक् प्रत्याहार पढ़ते।

दीर्घप्लुतवचने च संवृतनिवृत्त्यर्थो विवृतोपदेशः कर्तव्यः। दीर्घप्लुतौ संवृतौ मा भूतामिति। वृक्षाभ्याम्, देवदत्ता ३ इति। नैव लोके न च वेदे दीर्घप्लुतौ संवृतौ स्तः। कौ तर्हि। विवृतौ। यौ स्तस्तौ भविष्यतः।

स्थानी प्रकल्पयेदेतावनुस्वारो यथा यणम्

संवृतः स्थानी संवृतौ दीर्घप्लुतौ प्रकल्पयेत्। अनुस्वारो यथा यणम्। तद्यथा—सँय्यन्ता, सँव्वत्सरः, यँल्लोकम्, तँल्लोकम् इति। अनुस्वारः स्थानी यणमनुनासिकं प्रकल्पयति। विषम उपन्यासः। युक्तं यत्सतस्तत्र प्रक्लृप्तिर्भवति। सन्ति हि यणः सानुनासिका निरनुनासिकाश्च। दीर्घप्लुतौ पुनर्नैव लोके नैव च वेदे संवृतौ स्तः। कौ तर्हि। विवृतौ। यौ स्त स्तौ भविष्यतः। एवमपि कुत एतत्—तुल्यस्थानौ प्रयत्नभिन्नौ भविष्यतः, न पुनस्तुल्यप्रयत्नौ स्थानभिन्नौ स्याताम्, ईकार ऊकारो वेति। वक्ष्यति—स्थानेन्तरतम इत्यत्र स्थाने इत्यनुवर्तमाने पुनः स्थानेग्रहणस्य प्रयोजनं यत्रानेकविधमान्तर्यं तत्र स्थानत एवान्तर्यं बलीयो भवतीति।

इस लिये कि (ह्रस्व 'अ' के स्थान में) किये हुए दीर्घ और प्लुत कहीं संवृत न हो जायँ। वृक्षाभ्याम् (वृक्ष भ्याम्), देवदत्ता ३ (देवदत्त ३)। (परन्तु यह कोई प्रयोजन नहीं) क्योंकि न लोक में और नहीं वेद में दीर्घ और प्लुत संवृत होते हैं। वो कैसे होते हैं? विवृत। जैसे होते हैं वैसे आदिष्ट होंगे।

पर संवृत स्थानी अपने सदृश संवृत दीर्घ और प्लुत की कल्पना कर लेगा, जैसे अनुस्वार अपने सदृश अनुनासिक यण् की। जैसे—सँय्यन्ता (संयन्ता), सँव्वत्सरः (संवत्सरः), यँल्लोकम् (यं लोकम्), तँल्लोकम् (तं लोकम्) इत्यादि में अनुस्वार (जो अनुनासिक के स्थान में हुआ है) अपने स्थान में अनुनासिक यण् (य व ल) की कल्पना करता है। यह दृष्टान्त ठीक नहीं। जो विद्यमान (सिद्ध) है उसकी कल्पना तो युक्त है। यण् (य व ल – दोनों) प्रकार के प्रसिद्ध हैं, पर दीर्घ व प्लुत कहीं भी संवृत नहीं, न लोक में, न वेद में। तो कैसे हैं?

विवृत।

जैसे हैं वैसे होंगे।

ऐसा होने पर भी यह क्योंकर है कि ह्रस्व (संवृत) 'अ' के स्थान में तुल्य स्थान (कण्ठ्य) पर भिन्न-प्रयत्न वाले (अर्थात् विवृत) दीर्घ और प्लुत आकार तो होते हैं, तुल्य प्रयत्नवाले पर भिन्न- स्थान वाले ईकार अथवा ऊकार नहीं? (उत्तर)—

स्थानेऽन्तरतमः इस सूत्र में आचार्य कहेंगे—स्थाने पद की (षष्ठी स्थाने योगा इस सूत्र से) अनुवृत्ति आने पर भी फिर 'स्थाने' ग्रहण का प्रयोजन यह है कि जहाँ

तत्रानुवृत्तिनिर्देशे सवर्णाग्रहणमनण्त्वात् ॥

तत्रानुवृ[१]त्तिनिर्देशे सवर्णानां ग्रहणं न प्राप्नोति अस्य च्वौ, यस्येति च। किं कारणम् अनण्त्वा[२]त्। न ह्येतेऽणः, येऽनुवृत्तौ। के तर्हि। येऽक्षरसमाम्नाय उपदिश्यन्ते।

एकत्वादकारस्य सिद्धम्[३]।

एकोऽयमकारो यश्चाक्षरसमाम्नाये यश्चानुवृत्तौ, यश्च धात्वादिस्थः।

अनुबन्धसङ्करस्तु ॥

नाना प्रकार का सादृश्य हो वहाँ स्थान-कृत सादृश्य बलवत्तर होता है।

(वा०) तो भी साक्षात् शास्त्र प्रवृत्ति के अनुकूल सूत्र-निर्देश (अर्थात् प्रत्याहार-रहित) में सवर्ण का ग्रहण नहीं हो सकेगा, क्योंकि वह निर्देश, अण् नहीं। जैसे, अस्य च्वौ, सूत्र में निर्दिष्ट 'अ' से सवर्ण 'आ' का ग्रहण न होसकेगा, तथा 'यस्येति च' सूत्र में निर्दिष्ट 'इ' 'अ' से सवर्ण दीर्घ 'ई' और 'आ' का ग्रहण न हो सकेगा। इन सूत्रों में उच्चारण किये हुए अ, इ - अण् नहीं। अण् से अक्षर-समाम्नाय में उपदिष्ट अ 'इ' उ इत्यादिका ग्रहण होता है।

(वा०) अकार के एक होने से इष्ट सिद्धि होजायगी (अर्थात् उक्तदोष नहीं आयेगा)

जो अकार अक्षर समाम्नाय में है, जो प्रत्याहार-रहित सूत्रनिर्देश में, जो धातु आदि में है, वह सब एक ही है।

(वा०) पर ऐसा होने से अनुबन्ध - सङ्कर प्राप्त होता है।

---

१ अनुवृत्तिनिर्देशः—वृत्तिमनुगत इत्यनुवृत्तिः। अत्यादयः क्रान्ताद्यर्थे द्वितीया इससे प्रादिसमास, अनुवृत्ति श्चासौ —निर्देशश्च = अनुवृत्तिनिर्देशः। वृत्ति = शास्त्रप्रवृत्ति, उसके अनुकूल निर्देश, जहाँ प्रत्याहार का आश्रयण न करके वर्णों का लक्ष्य संस्कार के लिये सीधा उच्चारण है, जैसे अस्य च्वौ (७।४।३२) में 'अ' का।

२ अस्य च्वौ—इस में जो अ' पढ़ा है यह अण् नहीं, जैसे 'आ' अण् नहीं वैसे ही 'अ' भी नहीं, क्यों प्रति उच्चारण में वर्णभेद होता है ऐसा व्यक्तिपक्ष में माना जाता है। प्रत्याहारस्थ क् (जैसे अक् में), ण् जैसे अण् में) आदि से अक्षरसमाम्नाय स्थ 'अ' का अनुमान हो जाता है, पर 'अस्य च्वौ' में तो वैसा चिन्ह नहीं है।

३ अकार, इकार आदि नित्य व्यक्तियाँ हैं, एक ही 'अ' व्यञ्जक-ध्वनि-भेद से भिन्न सा भासता है, जैसे एक ही मुख आदि खड्ग, तैल, आदर्श (दर्पण) में प्रतिबिम्ब-भेद से नाना भासता है। अतः सब'अ'अण् ही, है। अतः सर्वत्र ग्रहणक शास्त्र (अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः) की प्रवृत्ति होगी। यह व्यक्ति-स्फोट वादी सिद्धान्त्येकदेशी का मत है।

अनुबन्धसंकरस्तु प्राप्नोति। कर्मण्यण् आतोऽनुपसर्गे कः, इति केऽपि णित्कृतं प्राप्नोति।

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिः॥

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिर्भवति। तत्र को दोषः। किरिणा गिरिणेत्येकाज्लक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोति। इह च घटेन तरति घटिक इति द्व्यज्लक्षणः ष्ठन् न प्राप्नोति।

द्रव्यवच्चोपचाराः॥

द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्ति। तद्यथा द्रव्येषु नैकेन घटेनानेको युगपत्कार्यं करोति। एवमिममकारं नानेको युगपदुच्चारयेत्।

विषयेण[1] तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धम्॥

अर्थात् 'अ' के एक होने से एक अनुबन्ध के कार्य के साथ साथ दूसरे अनुबन्ध के निमित्त से कार्यान्तर भी प्रसक्त होता है, जैसे 'क' प्रत्यय का 'अ' और अण् प्रत्यय का 'अ' यदि एकही है तो 'आतोनुपसर्गे कः, की प्रवृत्ति होने पर 'गोद' रूप बनेगा और स्त्रीत्वविवक्षा में ङीप् होगा, नकि टाप्, कारण कि 'क' का 'अ' इत्संज्ञक णकार वाला भी है ऐसा समझा जायगा। इतना ही नहीं खित्व के कारण 'आतो युक्'— से युक् आगम भी प्राप्त होता है।

(वा०) जिन सूत्रों में एकाच् अनेकाच् का—निमित्त रूप से ग्रहण किया है उनमें इष्ट रूपकी असिद्धि रहेगी।

इससे यह दोष आयगा कि किरिणा, गिरिणा यहाँ एकाच् हो जाने से विभक्ति अन्तोदात्त हो जायगी और घटेन तरति घटिकः यह रूप न बन सकेगा, कारण कि 'ष्ठन्' प्रत्यय द्वयच्क से विधान किया है, पर यहाँ 'अ' व्यक्ति के एकत्व के कारण 'घट' शब्द एकाच् हो जायगा।

(वा०) अकार के साथ द्रव्य का-सा व्यवहार प्राप्त होता है। जैसे द्रव्यों के विषयमें ऐसा है कि अनेक लोग एकही घट से एकही समय में कार्य नहीं करते। इसी तरह अनेक लोग इस एक अकार को एक साथ उच्चारण न कर सकेंगे।

(वा०) विषय विषय में जो आचार्य अकार के साथ भिन्न-भिन्न लिङ्ग

---

१. वार्तिककार ने विषयत्व-रूप सामान्य को लेकर और अधिकरणत्व के स्थान में करणत्व की विवक्षा कर 'विषयेण' यह तृतीया-एक वचन का प्रयोग किया है, भाष्यकार विषय-भेद को दृष्टि में रखकर अधिकरणता का बोध कराने के लिये विषये विषये—ऐसा, प्रयोग करते हैं।

यदयं विषये विषये नानालिङ्गमकारं करोति—कर्मण्यण्, आतोनुपसर्गे कः, इति तेन ज्ञायते नानुबन्धसङ्करोस्तीति । यदि हि स्यान्नानालिङ्गकरणमनर्थकं स्यात् । एकमेवायं सर्वगुण[1]मुच्चारयेत् । नैतदस्ति ज्ञापकम् । इत्संज्ञाप्रक्लृप्त्यर्थ-मेतत्स्यात् । न ह्ययमनुबन्धैः शल्यकवच्छक्य उपचेतुम् । इत्संज्ञायां हि दोषः स्यात् । आयम्य[2] हि द्वयोरित्संज्ञा स्यात् । कयोः । आद्यन्तयोः । एवं तर्हि—

विषयेण तु पुनर्लिङ्गकरणात्सिद्धम् ॥

यदयं विषये विषये पुनर्लिङ्गमकारं करोति—प्राग्दीव्यतोऽण्, शिवादि-भ्योण् इति । तेन ज्ञायते नानुबन्धसङ्करोस्तीति । यदि हि स्यात्पुनर्लिङ्गकरण-मनर्थकं स्यात् ।

अथवा पुनरस्तु

जोड़ता है, जैसे कर्मण्यण्—इसमें 'ण्' आतोनुपसर्गेकः—इसमें क्, इस से जानते हैं कि एकही स्थल में नानाऽनुबन्ध-निमित्तक कार्यों का साङ्कर्य नहीं होगा । यदि यह साङ्कर्य होजाय, तो भिन्न भिन्न लिङ्ग लगाना व्यर्थ हो जाय । एक अकार को सभी अनुबन्धों सहित पढ़ दे । यह कोई ज्ञापक नहीं । नानालिङ्गों (अनुबन्धों) का लगना इत्संज्ञा की सिद्धि के लिये चरितार्थ रहेगा । एक ही अकार को शल्यक (सेहा जो ऊपर नीचे काँटों से ढपा हुआ होता है) की तरह अनुबन्धों से ढाँपा नहीं जा सकता, कारण कि इत्संज्ञा में दोष आयगा । यत्न करने पर दोकी इत्संज्ञा हो सकेगी । आदि और अन्त के हलोंकी । अच्छा तो—

(वा०) विषय-विषय में जो आचार्य अकार को बार-बार एक ही लिङ्ग (अनुबन्ध) से युक्त करते हैं, जैसे प्राग्दीव्यतोऽण्—यहाँ और फिर शिवादिभ्योऽण्—यहाँ भी, इससे जानते हैं कि अनुबन्ध-संकर नहीं होता । यदि हो तो बार-बार एकही लिङ्ग को लगाना व्यर्थ हो जाय ।

अथवा फिर वही पहले पढ़ा हुआ—

---

१. 'गुण' से यहाँ अनुबन्ध विवक्षित है । अनुबन्ध कार्य करने के लिये आश्रित किये जाते हैं, अतः उपकारक होने से 'गुण' शब्द से व्यपदिष्ट किये जाते हैं । सर्वगुणम्= सर्वानुबन्धम् । कर्मण्यण् न कह कर कर्मणि कण्ट् ऐसा कहे ।

२. आयम्य, यत्न कर । आङ् यम् का अर्थ खींचना, लम्बा करना होताहै । यत्न करना गौणार्थ है । 'कण्ट्' इस अनुबन्ध समुदायके आदि क् की लशक्वतद्धिते (१।३।८) से इत्संज्ञा हो जायगी, अन्त्य 'ट्' की हलन्त्यम् (१।३।३) से इत्संज्ञा हो जायगी, पर बीच के ण् की तो किसी शास्त्र से इत्संज्ञा न हो सकेगी ।

विषयेण तु नानालिङ्गकरणात्सिद्धम् ॥

इत्येव । ननु चोक्तम् - इत्संज्ञाप्रक्लृप्त्यर्थमेतत्स्यादिति । नैष दोषः । लोकत एतत्सिद्धम् । तद्यथा लोके कश्चिदेवं देवदत्तमाह—

इह मुण्डो भव, इह जटिलो भव, इह शिखी भवेति । यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपतिष्ठते । एवमयमकारो यल्लिङ्गो यत्रोच्यते तल्लिङ्गस्तत्रोपस्थास्यते ।

यदप्युच्यते—एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चानुपपत्तिरिति—

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तिसंख्यानात् ।

एकाजनेकाज्ग्रहणेषु चावृत्तेः संख्यानादनेकाच्त्वं भविष्यति । तद्यथा—सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति इति त्रिः प्रथमामन्वाह त्रिरुत्तमाम् इत्यावृत्तितः सप्तदशत्वं भवति । एवमिहाप्यावृत्तितोऽनेकाच्त्वं भविष्यति । भवेदावृत्तितः

(वा०) विषयेण तु नाना इत्यादि वार्तिक न्यास ही अनुबन्ध-सङ्कर-रूप दोष की निवृत्ति कर देगा । अजी, अभी कहा था कि नाना लिङ्गों का लगाना इत्संज्ञा की सिद्धि के लिये चरितार्थ रहेगा और ज्ञापक न हो सकेगा । मत हो, इस से कुछ बिगड़ता नहीं । नाना-लिङ्ग-हेतुक सङ्कर का अभाव तो लोक से सिद्ध है । जैसे लोक में कोई देवदत्त को ऐसे कहता है—

यहाँ (संन्यासाश्रममें) मुण्डी हो, यहाँ (ब्रह्मचर्याश्रम में) जटावान् हो, यहाँ (गृहस्थाश्रम में) शिखावाला हो । (एक होता हुआ भी वह देवदत्त) जिस चिह्न वाला जहाँ कहा जाता है उस चिह्नवाला वहां उपस्थित हो जाता है । इसी प्रकार अकार भी जिस चिह्नवाला (णित्व, कित्व, टित्वादि) जहां कहा जाता है उस चिह्नवाला वहां उपस्थित हो जायगा ।

और जो कहा गया है कि जिन सूत्रों में एकाच्, अनेकाच् का ग्रहण है वहां इष्टसिद्धि नहीं होगी, उसका उत्तर यह है—

(वा०) एकाच् अनेकाच् के ग्रहण में आवृत्ति द्वारा लब्ध संख्या से अनेकाच्त्व हो जायगा । जैसे (वेद में कहा है) विकृतियाग में सत्तरह समिदाधान के मन्त्र होते हैं । वस्तुतः वहां तेरह मन्त्र होते हैं, जिनके प्रथम और अन्तिम मन्त्र को तीन बार उच्चारण करके सत्तरह संख्या बन जाती है। इसी प्रकार यहां (घट आदि में) आवृत्ति से अनेकाच्त्व हो जायगा, (जिससे द्व्यच्से विहित 'ठन्' प्रत्यय हो जायगा और 'घटिकः' यह इष्ट रूप सिद्ध हो जायगा) । अच्छा आवृत्ति करके इष्टकार्य सिद्ध हो जाने से दूषण (सूत्र की अव्याप्ति) का परिहार संभव होनेपर भी यहाँ किरिणा गिरिणा में स्वरूप से एकाच्त्व (एक ही इकार) के होने से एकाच्

कार्यं परिहृतम्। इह तु खलु किरिणा गिरिणेत्येकाज्लक्षणमन्तोदात्तत्वं प्राप्नोत्येव। एतदपि सिद्धम्। कथम्। लोकतः। तद्यथा ऋषिसहस्रमेकां कपिलामेकैकशः सहस्रकृत्वो दत्त्वा तया सर्वे ते सहस्रदक्षिणाः सम्पन्नाः। एवमिहाप्यनेकाच्त्वं भविष्यति। यदप्युच्यते द्रव्यवच्चोपचाराः प्राप्नुवन्तीति। भवेद् यदसंभवि कार्यं तन्नानेको युगपत्कुर्यात्।

को मानकर जो विभक्ति की अन्तोदात्तता प्राप्त होती है वह तो होकर रहेगी (यह दूषण अपरिहृत रहा)।

इसका परिहार भी हो जायगा।

कैसे ?

लोक व्यवहार से।

जैसे एक हजार ऋषि एक-एक करके एक ही कपिला गौ को हजार बार (किसी ब्राह्मण को) देते है, इस से वे सहस्र गो दान करने वाले कहे जाते हैं (सहस्र गो दान का फल उन्हें मिलता है, नकि एक गो दान का)। इसी प्रकार यहाँ भी अनेकाच्त्व हो जायगा। जो यह कहा है कि अकार के एक होने से इसके साथ द्रव्य का सा व्यवहार प्राप्त होता है। (उसमें हमें यह कहना है)—जो कार्य असंम्भव है वह भलेही अनेक पुरुष एक ही समय न कर सकें, जो कार्य हो सकता है उसे अनेक लोग भी एक साथ

१.—यदि 'अ' एक ही है तो घट शब्द एकाच् हो जायगा, तब इससे 'तरति इस अर्थ में नौद्व्यचः ठन् (४।४।७।।) से ठन् प्रत्यय न हो सकेगा और घटेन तरति, इस अर्थ में 'घटिकः' यह इष्ट रूप न बन सकेगा। इस सूत्र से यहां अव्याप्ति रहेगी। इसका परिहार आवृत्ति से किया है।

२—किरि , गिरि में यदि इकार व्यक्ति एकही है तो यह किरि (सूअर) और गिरि शब्द स्वरूप से एकाच् हुए, तो सावेकाचस्तृतीयादिर्विभक्तिः (६।१।१६८) इस सूत्र की अतिव्याप्ति होकर किरिणा, गिरिणा—ये पद अन्तोदात्त हो जायंगे।

३—यहां कुछ विद्वान् दान प्रतिग्रहमाला समझते हैं। वे ऋषि दाता भी हैं और प्रतिग्रहीता भी। सो ठीक नहीं, क्योंकि प्रथम ऋषि केवल दाता ही होगा, प्रतिग्रहीता नहीं। वस्तुतः स्वत्व-निवृत्ति पूर्वक दानकर किसी प्रतिग्रहीता ब्राह्मण से प्रत्येक ऋषि उस एक कपिला गौ को मोल लेकर उसे ही प्रतिग्रह-रूप में लौटा देता है। यहाँ लोक व्यवहार से यह सिद्ध होता है कि—'गौणी मुख्या वा उत्तरा सङ्ख्या पूर्वां सङ्ख्यां बाधते, आवृत्ति से यहाँ एकही गौ सहस्र-संख्याक होगयी, क्योंकि उन सहस्र ऋषियों को एक गोदान का फल नहीं मिला, किन्तु सहस्र गौओं के दान का। ऐसे ही प्रकृत में

यत्खलु संभवि कार्यमनेकोपि तद्युगपत्करोति । तद्यथा—घटस्य दर्शनं स्पर्शनं वा । संभवि चेदं कार्यमकारस्योच्चारणं नाम, अनेकोऽपि तद् युगपत्करिष्यति ।

आन्यभाव्यं तु कालशब्दव्यवायात् ॥११॥

आन्यभाव्यं त्वकारस्य । कुतः । कालशब्दव्यवायात् । कालव्यवायाच्छब्दव्यवायाच्च । कालव्यवायाद्—दण्ड अग्रम् । शब्दव्यवायात्—दण्डः । न चैकस्यात्मनो व्यवायेन भवितव्यम् । भवति चेद्भवत्यान्यभाव्यमकारस्य ।

युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनात् ॥ १२ ॥

युगपच्च देशपृथक्त्वदर्शनान्मन्यामहे आन्यभाव्यमकारस्येति । यदयं युगपद् देशपृथक्त्वेषूपलभ्यते—अश्वः, अर्कः, अर्थ इति । न ह्येको देवदत्तो युगपत्स्रुघ्ने च भवति मथुरायां च ।

यदि पुनरिमे वर्णाः

करते हैं। जैसे घड़े का स्पर्श और दर्शन । अकार का उच्चारण-रूप कार्य भी हो सकता है, अनेक लोग इसे एक-साथ उच्चारण कर सकते हैं ।

(व०) अकार अन्यान्य (नाना) होने चाहियें कालकृत व्यवधान तथा शब्दकृत व्यवधान होने से ।

अकार का नानात्व सिद्ध होता है । कैसे ? कालकृत व्यवधान तथा शब्दकृत व्यवधान के कारण । कालकृत व्यवधान, जैसे दण्ड अग्रम्, यहाँ । शब्द कृतव्यवधान, जैसे दण्ड, यहां । एक ही पदार्थ में व्यवधान नहीं होता है तो (निश्चित ही) 'अकार' नाना है ।

(वा०) एक साथ नाना देशों (स्थानों) में उपलब्ध होने से ।

एक साथ नाना स्थानों में देखे जाने से हम समझते हैं कि अकार नाना है । क्यों कि यह अश्व, अर्क इत्यादि स्थलों में एक-साथ देखा जाता है । एक ही देवदत्त एक साथ स्रुघ्न और मथुरा में नहीं हो सकता ।

यदि ये वर्ण पक्षियों की तरह होवें ।

स्वरूप से यद्यपि किरि, गिरि (इ के एक होने से) एकाच् हैं, पर आवृत्ति से प्राप्त हुई उत्तर संख्या द्व्यच्कता स्वरूप-सिद्ध पूर्व संख्या एकाच्त्व को बाध लेगी और इससे यहाँ सूत्र की अतिव्याप्ति नहीं होगी ।

१ अन्यस्य भावः=अन्यभावः स एव आन्यभाव्यम् । स्वार्थे ष्यञ् ।

२ देश से यहां वर्ण--समुदाय रूप शब्द का ग्रहण है ।

शकुनिवत्स्युः ॥

तद्यथा शकुनय आशुगामित्वात्पुरस्तादुत्पतिताः पश्चाद् दृश्यन्ते । एव-मयमकारो द इत्यत्र दृष्टो ण्ड इत्यत्र दृश्यते ।

नैवं शक्यम् । अनित्यत्वमेवं स्यात् । नित्याश्च शब्दाः । नित्येषु च शब्देषु कूटस्थैरविचालिभिर्वर्णैर्भवितव्यमनपायोपजनविकारिभिः ।
यदि पुनरिमे वर्णाः—

आदित्यवत्स्युः ॥

तद्यथा—एक आदित्योऽनेकाधिकरणस्थो युगपद् देशपृथक्त्वे षूपलभ्यते । विषम उपन्यासः । नैको द्रष्टाऽऽदित्यमनेकाधिकरणस्थं युगपद् देशपृथक्त्वे-षूपलभतेऽकारं पुनरुपलभते । अकारमपि नोपलभते । किं कारणम् । श्रोत्रो-पलब्धिर्बुद्धिनिर्ग्राह्यः प्रयोगेणाभिज्वलित आकाशदेशः शब्दः । एकं च पुनरा-काशम् । आकाशदेशा अपि बहवः । यावता बहवस्तस्मादान्यभाव्यमकारस्य ।

जैसे पक्षी आगे की ओर उड़े हुए शीघ्रगति के कारण पीछे की ओर देखे जाते हैं इसी प्रकार 'द' में देखा हुआ 'अ' ण्ड में (पीछे की ओर) देखा जाता है (अर्थात् वर्ण-संक्रम हो जाता है)।

यह नहीं हो सकता, कारण कि इस प्रकार शब्द में अनित्यता आ जायगी। परन्तु शब्दों में वर्णों को कूटस्थ (नित्य अवस्थित) स्थानपरिवर्तन--रहित, ह्रास वृद्धि और आदेश से रहित होना चाहिये।

यदि ये वर्ण—
(वा०) आदित्य की तरह हों
जैसे एक ही सूर्य उदय आदि काल में अनेक स्थानों में स्थित, भिन्न भिन्न स्थानों में (रहने वाले लोगोंसे) एक-साथ देखा जाता है (ऐसेही एक ही अकार भी)। यह दृष्टान्त ठीक नहीं। (यहां विषमता है और वह यह है कि) एक ही पुरुष भिन्न-भिन्न स्थानों में वर्तमान सूर्य को भिन्न-भिन्न स्थानों में एक-साथ नहीं देख पाता, अकार को तो देखता है (इससे अकार व्यक्तियों का नानात्व ही सिद्ध होता है)। इस पर एकत्व वादी फिर कहता है--अकार को भी इस प्रकार पृथक् पृथक् स्थानों में नहीं देखता। क्या कारण ? शब्द (स्फोट रूप) श्रोत्र से उपलब्ध तथा बुद्धि से निर्गृहीत, ध्वनि से अभिव्यक्त होता है, और आकाश इसका देश है। आकाश एक अखण्ड वस्तु है। (नहीं) आकाश के भी—नाना प्रदेश हैं। (अर्थात् उपाधिभेद से मठाकाश घटाकाश इत्यादि नाना आकाश-देश हैं)। चूँकि नाना प्रदेश हैं इसीलिये तदाश्रित अकार भी नाना है एक नहीं।

१.—श्रोत्रोपलब्धिः = श्रोत्रेणोपलभ्यत इति। कर्मणि क्तिन्।

आकृतिग्रहणात्सिद्धम्

अवर्णाकृतिरुपदिष्टा सर्वमवर्णकुलं ग्रहीष्यति, तथेवर्णाकृतिः, तथोवर्णाकृतिः ।

तद्वच्च तपरकरणम् ॥

एवं च कृत्वा तपराः क्रियन्ते – आकृतिग्रहणेनातिप्रसक्तमिति । ननु च सवर्णग्रहणेनातिप्रसक्तमिति कृत्वा तपराः क्रियेरन् । प्रत्याख्यायते तत्— सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वाच्चेति ।

हल्ग्रहणेषु च ॥

किम् । आकृतिग्रहणात्सिद्धमित्येव । झलो झलि, अवात्ताम्, अवात्तम्, अवात्त । यत्रैत न्नास्ति—अण् सवर्णान्गृह्णातीति ।

(वा०) आकृति (जाति) काही सर्वत्र ग्रहण होने से समस्त दोषों का वारण और सर्वेष्ट सिद्धि हो जायगी ।

अकार जाति का निर्देश होने से सारे अकार-कुल का अर्थात् अठारह प्रकार के अकार का ग्रहण हो जायगा । इसी प्रकार इकार जाति का निर्देश होने से, इसी प्रकार उकार जाति का (शेष सभी वर्णों के विषय में भी ऐसेही जानो) ।

(वा०) इसी लिये तो "तपर" किया गया है ।

आकृति ग्रहण (जातिनिर्देश से जहाँ अतिप्रसंग का भय होता है वहाँ अचार्य "तपर" करते है ।

क्यों जी, 'तपर' तो जहाँ सवर्ण ग्रहण से अतिप्रसङ्ग होता हो उस के वारण के लिये भी किया गया हो सकता है । (नहीं) सवर्ण--ग्राहक शास्त्र में पढ़े हुए 'अण्' का 'सवर्णेऽण्ग्रहणमपरिभाष्यमाकृतिग्रहणादनन्यत्वाच्च' इस वचन से प्रत्याख्यान किया गया है ।

१—त्यदादीनामः, इत्यादि में वर्णसमाम्नाय में जातिपरक निर्देश है इस पक्ष में तथा उदात्त आदि गुण भेदक नहीं होते इस पक्ष में दीर्घ आदि के वारण के लिये अणुदित्सूत्र में अप्रत्यय (= अविधीयमान) का ग्रहण करना आवश्यक है । उदित् ग्रहण भी इष्ट है, केवल अण् का प्रत्याख्यान किया गया है ।

२—व्यक्तिपक्षे में झल से एक तकार–व्यक्ति का बोध होगा । झलो झलि सूत्र में यदि पञ्चम्यन्त 'झलः' पद से 'त्' का ग्रहण होगा तो सप्तम्यन्त 'झलि' पद से दूसरी तकार व्यक्ति का ग्रहण नहीं हो सकता । तो प्रकृत में (आवत् स् ताम् इत्यादि में) 'स' का लोप न हो सकेगा और इष्ट–रूप 'अवात्ताम्' सिद्ध न होगा । (ऐसा होने पर

रूपसामान्याद्वा ॥

रूपसामान्याद्वा सिद्धमेतत्। तद्यथा--तानेव शाटकानाच्छादयामो ये मथुरायाम, तानेव शालीन्भुञ्ज्महे ये मगधेषु, तदेवेदं भवतः कार्षापणं यन्मथुरायां गृहीतम्, अन्यस्मिंश्चान्यस्मिन् रूपसामान्यात् तदेवेदमिति। एवमिहापि रूपसामान्यात्सिद्धम् ॥

(वा०) जिन सूत्रों में हल् का ग्रहण है उनमें भी आकृति--निर्देशसे इष्ट सिद्धि हो जायगी।

जहाँ अण् नहीं और इस लिये सवर्णग्रहण का प्रसङ्ग ही नहीं, जैसे झल् से परे 'स्' का लोप होता है झल् परे होने पर—अवत् स् ताम्, अवात्ताम्, अवात्स् तम्=अवात्स्त=अवात्त।

(वा०) अथवा (जातिपक्ष का आश्रयण न करनेपर) हल्ग्रहण वाले सूत्रों में रूप की समानता[1] को लेकर इष्ट सिद्धि हो जायगी।

जैसे—हम उन्ही शाटकों को पहन रहे हैं,

जो मथुरा में थे, उन्हीं चावलों को खा रहे हैं जो मगध में थे, यह आप का वही कार्षापण है जिसे (आपने) मथुरा में लिया था। और-और पदार्थ में केवल रूप--सादृश्य से ऐसी प्रतीति होती है कि यह वही है। इसी प्रकार प्रकृत में हल् वर्णों में (प्रति उच्चारण वर्ण भेद होने पर भी) रूपसादृश्यसे यह वही वर्ण है ऐसी प्रतीति होने से सब इष्ट (कार्य) सिद्ध हो जायगा ॥

भी सूत्र (झलो झलि) व्यर्थ नहीं हो जाता। वह 'आवान्ध् स् ताम्' इत्यादि स्थलों में चरितार्थ रहेगा, क्यों कि वहाँ झल् पद से दो भिन्न व्यक्तियों ध् त् का ग्रहण है)। अतः अवात्ताम् आदि की सिद्धि के लिये जाति पक्ष स्वीकार करना होगा। तब झल् से जो 'त्' गृहीत होता है वह तत्वावच्छिन्न परक है।

१—व्यक्ति पक्ष में उदात्त आदि, ह्रस्वदीर्घादि अनुनासिक निरनुनासिक आदि भेद के कारण अचों में रूप-सामान्य दुर्लभ है, अतः वहाँ रूपसामान्य को लेकर निर्वाह नहीं हो सकता। हाँ, हलों में इस प्रकार का कोई धर्म भेद न होने से रूप-सामान्य का आश्रय करके सामान्य-मूलक अभेद का आरोप करके निर्वाह हो जायगा। झल् पद से गृहीत हुए एक तकार व्यक्ति के साथ दूसरे तकार व्यक्ति का रूपसामान्य होने से अभेदारोप करके झल्त्वेन ग्रहण हो जायगा, जिससे अवात्ताम् आदि रूप-सिद्धि में बाधा न होगी।

ऋलृक् ॥

अथ लृकारोपदेशः किमर्थः । किं विशेषेण लृकारोपदेशश्चोद्यते न पुनरन्येषामपि वर्णानामुपदेशश्चोद्यते । यदि किञ्चिदन्येषामपि वर्णानामुपदेशे प्रयोजनमस्ति, लृकारोपदेशस्यापि तद्भवितुमर्हति । को वा विशेषः । अयमस्ति विशेषः । अस्य हि लृकारस्याल्पीयांश्चैव प्रयोगविषयः । यश्चापि प्रयोगविषयः सोऽपि क्लृपिस्थस्यैव । क्लृपेश्च लत्वमसिद्धम् । तस्यासिद्धत्वादृकारस्यैवाच्कार्याणि भविष्यन्ति । नार्थ लृकारोपदेशेन ।

अत उत्तरं पठति—

लृकारोपदेशो यदृच्छाशक्तिजानुकरण प्लुत्याद्यर्थः ॥

लृकारोपदेशः क्रियते यदृच्छाशब्दार्थोऽशक्तिजानुकरणार्थः प्लुत्याद्यर्थश्च । यदृच्छाशब्दार्थस्तावत्—यदृच्छया कश्चित् लृतको नाम । तस्मिन्नच्कार्याणि यथा स्युः--दध्य्लृतकाय देहि, मध्व्लृतकाय देहि उदङ्ङ्लृतकोऽगमत् , प्रत्यङ्ङ्लृतकोऽगमत् । चतुष्टयी शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दा गुणशब्दाःक्रियाशब्दा यदृच्छाशब्दाश्चतुर्थाः । 1962

ऋलृक् ।

यहाँ प्रश्न होता है कि (अक्षरसमाम्नाय में) लृकार उपदेश (लृकार पढ़ने का क्या प्रयोजन है । पर विशेष करके लृ कारोपदेश के विषय में क्यों पूछते हो, दूसरे वर्णों के उपदेश के विषय में क्यों नहीं पूछते हो । यदि दूसरे वर्णों के उपदेश का कोई प्रयोजन है वह लृकारोपदेश का भी हो सकता है । अथवा भेद क्या है ? भेद यह है—प्रथम तो लृकार के प्रयोग का विषय ही थोड़ा है और जो है भी वह क्लृप् धातु के लृकार का ही । और क्लृप् का लत्व असिद्ध होने से अच्कार्य (अच्स्थानिक, अच्=निमित्तक कार्य) ऋकार को ही हो जायंगे, लृकारोपदेश का कुछ प्रयोजन नहीं ।

इसलिये उत्तर पढ़ते हैं—

(वा०) लृकारोपदेश यदृच्छा (संज्ञाशब्द) अशक्ति से किये हुए अनु-करण, तथा प्लुत आदि कार्यों के लिए चाहिये ।

पहले यदृच्छा को लीजिये—अपनी इच्छा से किये गये संकेतके कारण कोई लृतक' नाम से प्रसिद्ध है । उस लृतक नाम के परे रहते अच् निमित्तक कार्य जिस प्रकार हो सकें---(जैसे)

दध्य्लृतकाय देहि (लृ तक नामक पुरुष को दही दो), मध्व्लृतकाय देहि (शहद लृतक नामक पुरुष को दो—इन दो वाक्यों में 'दधि' और 'मधु' के 'इ', 'उ' के अनन्तर

अशक्तिजानुकरणार्थः—अशक्त्या कयाचिद् ब्राह्मण्या ऋतक इति प्रयोक्तव्ये लृतक इति प्रयुक्तम्। तस्यानुकरणं ब्राह्मण्यॢतक इत्याह कुमार्य्-ॢतक इत्याह।

प्लुत्याद्यर्थश्च। के पुनः प्लुत्यादयः। प्लुतिद्विर्वचनस्वरिताः। क्लृ३प्तशिखः। क्लृप्प्तः। प्रक्लृप्तः। प्लुत्यादिषु कार्येषु कृपेर्लत्वं सिद्धम्। तस्य सिद्धत्वादच्कार्याणि न सिध्यन्ति। तस्माद् लृकारोपदेशः क्रियते।

नैतानि सन्ति प्रयोजनानि।

'लृतक' के लृकार आने पर 'लृ' को अच् मानकर इ, उ के स्थान में यण् हुआ है और जैसे उदङ्ङ्लृतकोऽगमत्, प्रत्यङ्ङ्लृतकोऽगमत् (लृतक उत्तरकी ओर गया, लृतक पश्चिमकी ओर गया) इन दो वाक्यों में उदङ् और प्रत्यङ् के 'ङ्' से परे 'लृतक' का लृकार होन से उसे अच् मानकर 'ङमुट्' आगम हुआ है। चार प्रकार के शब्दों का प्रयोग देखा जाता है—जातिशब्द, गुणशब्द, क्रियाशब्द और चौथे यदृच्छाशब्द।

अशक्ति से किये गये उच्चारण के अनुकरण के लिये—(जैसे) किसी एक ब्राह्मणी ने असामर्थ्य के कारण ऋतक उच्चारण न करके 'लृतक' ऐसा उच्चारण कर दिया। दूसरा यह बताने के लिये कि उस ब्राह्मणी ने कैसा उच्चारण किया उस का अनुकरण करते हुए कहता है—ब्राह्मण्य् लृतक इत्याह, कुमार्य् लृतक इत्याह (यहाँ 'लृ' को अच् मानकर ब्राह्मणी-शब्द के अन्त्य 'ई' को यण् हुआ है)।

प्लुत आदि कार्यों के लिये भी (अचों में 'लृ' का उपदेश (पाठ) होना चाहिये)—यहाँ प्लुत आदि कौन से कार्य समझने चाहिये? प्लुत[1] द्विर्वचन[2] और स्वरित[3]। प्लुत जैसे क्लृ३प्तशिख में, द्विर्वचन (द्वित्व) जैसे क्लृप्प्तः में, स्वरित जैसे प्रक्लृप्तः में। इन कार्यों के प्रति 'कृपो रो लः' (८।२।१८) सूत्र से 'कृप्' धातु के 'ऋ' के स्थान में जो लृकार हुआ है वह सिद्ध है (क्योंकि ये कार्य त्रिपादी होने पर 'पर' हैं और लत्व विधि पूर्व है)। लृ का अचों में पाठ किये बिना ये कार्य सिद्ध नहीं हो सकते, अतः 'लृ' का अक्षरसमाम्नाय में अचों के मध्य में पाठ किया गया है।

ये प्रयोजन नहीं—(इसमें हेतु)—

---

१ गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् (८।२।८६) से प्लुत।

२. अनचि च' (८।४।४७) से द्वित्व।

३. प्रक्लृप्तः में 'गतिरनन्तरः' (६।२।४९) से प्र के प्रकृति-स्वर उदात्त होने से शेष निघात होने से उदात्तादनुदात्तस्य स्वरितः (८।४।६६) से क्लृ स्वरित होता है। 'गतिरनन्तरः' की प्रवृत्ति के लिये यहाँ क्लृप् का अन्तर्भावित ण्यर्थ समझना चाहिये, तभी उसमें सकर्मकता आयगी।

न्याय्यभावात्कल्पनं संज्ञादिषु ॥

न्याय्यस्य ऋतकशब्दस्य भावात्कल्पनं संज्ञादिषु साधु मन्यन्ते । ऋतक एवासौ न लृतक इति । अपर आह—न्याय्य ऋतक शब्दः शास्त्रान्वितोऽस्ति, स कल्पयितव्यः साधुः संज्ञादिषु । ऋतक एवासौ, न लृतक इति । अयं तर्हि यदृच्छाशब्दोऽपरिहार्यः—लृफिड लृफिड्डश्चेति । एषोऽपि ऋफिड ऋफिड्डश्च । कथम्? अर्तिप्रवृत्तिश्चैव हि लोके लक्ष्यते, फिड्फिड्डावौणादिकौ प्रत्ययौ । त्रयी च शब्दानां प्रवृत्तिः—जातिशब्दा गुणशब्दाः क्रियाशब्दा इति । न सन्ति यदृच्छाशब्दाः[1] ।

अन्यथा कृत्वा प्रयोजनमुक्तमन्यथा कृत्वा परिहारः । सन्ति यदृच्छाशब्दा इति कृत्वा प्रयोजनमुक्तं न सन्तीति परिहारः । समाने चार्थे[2] शास्त्रान्वितोऽ-

---

(वा०) न्याय्य (प्रकृति प्रत्यय से निष्पन्न) ऋतक शब्द के होने से उसी का संज्ञा आदि में प्रयोग करना उचित है ऐसा मानते हैं । अतः उस पुरुष का संस्कृत नाम 'ऋतक' है, 'लृतक' नहीं । दूसरा कोई वृत्तिकार इस वार्तिक का ऐसा व्याख्यान करता है - शास्त्रानुकूल संस्कारवान् ऋतक शब्द है, उसी का संज्ञा आदि में प्रयुक्त हुए असाधु शब्द के स्थान में अनुमान कर लेना चाहिये, वह ऋतक ही है, लृतक नहीं (इस से 'ऋतक' के 'ऋ' को निमित्त आदि मान कर अच्कार्य हो जायगा, लृ के उपदेश की कोई आवश्यकता नहीं) ।

अच्छा तो यह यदृच्छाशब्द मानना ही होगा लृफिड, लृफिड्ड । यह भी व्युत्पन्न साधुरूप में ऋफिड और ऋफिड्ड ही है । कैसे? 'ऋ' धातु का प्रयोग लोक में देखते ही हैं, फिड् और फिड्ड औणादिक प्रत्यय हैं । इसलिये कहना होगा कि शब्द तीन प्रकार के ही हैं—जाति-शब्द, गुण-शब्द, तथा क्रिया-शब्द । यदृच्छा-शब्द कोई नहीं हैं ।

एक प्रकार का कथन कर के प्रयोजन बताया, और उस से भिन्न प्रकार का कथन कर के परिहार बताया यदृच्छा शब्द हैं, इस पक्ष को स्वीकार कर लृकारोपदेश का प्रयोजन बताया, यदृच्छा शब्द नहीं होते ऐसा मान कर लृकारोपदेश की कर्तव्यता का निषेध कर दिया (सो उचित नहीं) । (और रही न्याय्य शब्द ऋतक आदि के प्रयोग अथवा अनुमान की बात) वहाँ हमें यह कहना है कि वाच्यार्थ के एक होते हुए ही

---

१. न सन्ति—यदृच्छा शब्दों का क्रियशब्दों में अन्तर्भाव करके । आचार्य ने अव्युत्पत्तिपक्षका आश्रयण कर के लृकार का उपदेश किया है, वार्तिककार व्युत्पत्तिपक्ष का आश्रयण कर इसका खण्डन करते हैं ।

२. समाने चार्थे । यहाँ ऋतक शब्द असाधु लृतक शब्द का निवर्तक होगा यह जो पूर्व युक्ति न्याय्यभावात्कल्पनं संज्ञादिषु में दी गई है वह ठीक नहीं । कारण कि अर्थ के समान होते हुए शास्त्रानुसारी (शास्त्रव्युत्पादित) रूप अशास्त्रान्वित (अव्यु-

शास्त्रान्वितस्य निवर्तको भवति। तद्यथा--देवदत्तशब्दो देवदिण्णशब्दं निवर्तयति, न गाव्यादीन्। नैष दोषः। पक्षान्तरैरपि परिहारा भवन्ति[1]।

अनुकरणं शिष्टा शिष्टाप्रतिषिद्धेषु यथा लौकिकवैदिकेषु॥

अनुकरणं हि शिष्टस्य वा साधु भवति, अशिष्टाप्रतिषिद्धस्य वा, नैव तद् दोषाय भवति, नाभ्युदयाय। यथा लौकिकवैदिकेषु। यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु। लोके तावत्-य एवमसौ ददाति, य एवमसौ यजते, य एवमसावधीत इति तस्यानुकुर्वन् दद्याच्च यजेत चाधीयीत च। सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते।

संस्कारवान् शब्द संस्कारहीन का निवर्तक होता है जैसे--देवदत्त शब्द देवदिण्ण शब्द को हटा देता है, पर गावी आदि (संस्कार हीन भिन्नार्थक) शब्दों को तो नहीं हटाता। यह कोई दोष नहीं, पक्षान्तर का आश्रयण कर के भी परिहार (खण्डन आदि) होते हैं।

(वा०) अनुकरण शिष्ट (=विहित) का अथवा जो न तो शिष्ट हो और नाहीं प्रतिषिद्ध हो उस का, साधु होता है जैसे--लौकिक तथा वैदिक क्रियाओं में।

अनुकरण शिष्ट का साधु होता है, अथवा जो न शिष्ट हो और नाहीं प्रतिषिद्ध हो उसका। यह दूसरा अनुकरण न कुछ हानि करता है और न मङ्गलकारी होता है। जैसे लौकिक और वैदिक कर्मों में। पहले लोक में उदाहरण लीजिये--जो इस प्रकार देता है, जो इस प्रकार यज्ञ करता है, जो इस प्रकार पढ़ता है, उसका अनुकरण करता हुआ यदि कोई दे, यज्ञ करे अथवा पढ़े, वह भी मङ्गल से युक्त होगा। वेद में भी--जो ये प्रजापति लोग इस प्रकार दीर्घ-काल-भावी यज्ञों को करते हैं उन का

त्यादि) रूप का निवर्तक होता है। यहाँ तो अर्थ भेद है—ऋतक में क्रिया प्रवृत्तिनिमित्त है और लृतक में शब्द प्रवृत्तिनिमित्त है। इस का भाष्य में उत्तर नहीं दिया गया। इस पर कैयट का यह कहना है कि अव्युत्पन्न-संज्ञाशब्दपक्ष में भी परम्परा-प्राप्त शिष्टजनों से प्रयुक्त-पूर्व संज्ञायें ही प्रयोग में लानी चाहियें। भाव यह है कि ऋतक भिन्नार्थक होने से लृतक का निवर्तक मत हो, शिष्टद्वारा प्रयुक्त न होने से ही उसकी निवृत्ति हो जायगी।

१. जैसे द्रव्यपक्ष में सरूपाणाम् एकशेष एकविभक्तौ इस का आरम्भ किया गया है और जाति पक्ष में प्रत्याख्यान। व्यक्ति पक्ष में अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इस सूत्र में अण् ग्रहण किया जाता है, जातिपक्ष में इस का प्रत्याख्यान। उपदेशेऽजनुनासिकः—यहाँ अनुबन्ध अनेकान्त (अनवयव) हैं ऐसा मान कर 'उपदेश' ग्रहण किया जाता है, अनुबन्ध एकान्त (अवयव) हैं इस पक्ष में उपदेश ग्रहण का प्रत्याख्यान। ऐसेही और भी पक्षान्तर द्वारक परिहार के उदाहरण हैं।

वेदेऽपि---य एवं विश्वसृजः सत्राण्यध्यासते इति तेषामनुकुर्वंस्तद्वत्सत्राण्यध्यासीत, सोऽप्यभ्युदयेन युज्यते। अशिष्टाप्रतिषिद्धं यथा—य एवमसौ हिक्कति, य एवमसौ हसति, य एवमसौ कण्डूयतीति तस्यानुकुर्वन् हिक्केच्च हसेच्च कण्डूयेच्च, नैव च तद्दोषाय स्यान्नाभ्युदयाय। यस्तु खल्वसौ ब्राह्मणं हन्ति, एवमसौ सुरां पिबतीति तस्यानुकुर्वन्ब्राह्मणं हन्यात्सुरां वा पिबेत्सोपि मन्ये पतितः स्यात्।

विषम उपन्यासः[१]। यश्चैवं हन्ति, यश्चानुहन्ति, उभौ तौ हतः। यश्चापि पिबति, यश्चानुपिबति, उभौ तौ पिबतः। यस्तु खल्वेवमसौ ब्राह्मणं हन्ति, एवमसौ सुरां वा पिबतीति तस्यानुकुर्वन् स्नातानुलिप्तो माल्यगुणकण्ठः कदलीस्तम्भं

अनुकरण करता हुआ कोई और दीर्घ कालभावी यज्ञ करे वह भी मङ्गल से युक्त होगा। अशिष्ट—अप्रतिषिद्ध का उदाहरण यह है—जो यह इस प्रकार हिचकचाता है, जो यह इस प्रकार हंसता है, जो यह इस प्रकार खुजली करता है, उसका अनुकरण करता हुआ कोई दूसरा हिचकचाए, हंसे अथवा खुजली करे, न तो यह अनुकरण कुछ हानि करेगा और न मङ्गल। पर जो ब्राह्मण की हत्या करता है (यह निषिद्ध कर्म है) और जो इस प्रकार सुरा पीता है (यह भी निषिद्ध कर्म है) उस का अनुकरण करता हुआ कोई दूसरा ब्राह्मण की हत्या करे अथवा सुरा पीए वह भी निश्चित ही पाप कर्म करने से पतित हो जायगा।

यह दृष्टान्त ठीक नहीं। जो इस प्रकार मारता है और जो उस का अनुकरण करते हुए मारता है, वे दोनों (एक समान) मारते हैं। और जो पीता है और जो उसका अनुकरण करते हुए पीता है, वे दोनों बराबर पीते हैं। पर जो कोई इस प्रकार ब्राह्मण को मारता है और जो कोई इस प्रकार सुरा पीता है, उस का अनुकरण करता हुआ स्नान पूर्वक चन्दन-लेप कर गले में पुष्पमाला धारण किये कदली-स्तम्भ को काटे अथवा

---

१. विषम उपन्यासः। वार्तिककार का दिया हुआ दृष्टान्त ठीक नहीं। यहाँ एक पहले मारता है और दूसरा पीछे मारता है, हनन क्रिया दोनों की एक ही है। अनुकरण पश्चात्करण को नहीं कहते। क्रिया-सादृश्य होना चाहिये, जैसे भाष्यकार उदाहरण से स्प: करते हैं। अनुकार्य के असाधु होने पर भी अनुकरण साधु ही होता है। जिस प्रकार कोई ब्राह्मण की हत्या करता है, अथवा सुरा पान करता है,उसी प्रकार यदि कोई कदली-स्तम्भ का छेदन करता है अथवा दूध पीता है तो दोषी नहीं होता। इस बात को झलकाने के लिये भाष्यकार स्नातानुलिप्तः, और माल्यगुणकण्ठः—ये दो विशेषण देते हैं। पहले विशेषण से उस की स्वस्थचित्तता टपकती है, दूसरे से स्वलङ्कृत होने से प्रत्यक्षविषयता अथवा प्रकटरूपता प्रतीत होती है, क्योंकि अलङ्क्रिया अपने आपको दूसरों की रुचिका विषय बनाने के लिये की जाती है। अकृत्य निषिद्ध कर्म करने वाला न तु स्वस्थचित होता है और न प्रकट रूप।

छिन्द्यात्पयो वा पिबेत्, न स मन्ये पतितः स्यात्। एवमिहापि य एवमसावपशब्दं प्रयुङ्क्त इति तस्यानुकुर्वन्नपशब्दं [1]प्रयुञ्जीत, सोऽप्यपशब्दभाक् स्यात्।

अयं त्वन्योऽपशब्दपदार्थकः शब्दो यदर्थ उपदेशः कर्तव्यः। न चापशब्दार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवति। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। यो हि मन्यतेऽपशब्दपदार्थकः शब्दोऽपशब्दो भवतीति, अपशब्द इत्येव तस्याऽपशब्दः स्यात्। न चैषोऽपशब्दः।

अयं खल्वपि भूयोऽनुकरणशब्दोऽपरिहार्यः, यदर्थ उपदेशः कर्तव्यः। साध्वॢकारमधीते, मध्वॢकारमधीत इति। कस्थस्य पुनरेतदनुकरणम्। क्लृपिस्थस्य। यदि क्लृपिस्थस्य, क्लृपेश्च लत्वमसिद्धम्, तस्यासिद्धत्वादृकार एवाच्कार्याणि भविष्यन्ति। भवेत्तदर्थेन नार्थः स्यात्। अयं त्वन्यः क्लृपिस्थपदार्थकः शब्दः, यदर्थ उपदेशः कर्तव्यः। न कर्तव्यः। इदमवश्यं

दूध पिये, मेरे विचार में वह पतित न होगा। इसी प्रकार जो कोई अपशब्द का प्रयोग करता है उस का अनुकरण करता हुआ स्वयम् भी अपशब्द का प्रयोग करे, वह अपशब्द प्रयोग के कारण से दोषी होगा।

परन्तु जहाँ (अनुकार्य) अपशब्द का प्रत्यायक (बोधक, वाचक) (अनुकरण) शब्द प्रयुक्त होता है उस के लिये वर्ण-समाम्नाय में ॡकार का उपदेश करना ही होगा। अपशब्द का वाचक शब्द स्वयम् अपशब्द नहीं होता। ऐसा अवश्य स्वीकार करना होगा। जो ऐसा मानता है कि अपशब्द का वाचक शब्द भी अपशब्द होता है, उस के लिये 'अपशब्द' भी अपशब्द (असाधु शब्द) हो जायगा, पर वस्तुतः 'अपशब्द' अपशब्द नहीं।

किंच। एक (साधु) अनुकार्य ॡ भी है जिसके अनुकरण (जो साधु ही होगा) के लिये अवश्य वर्ण-समाम्नाय में उपदेश करना होगा। यथा साध्वॢकारमधीते (ॡकार का शुद्ध उच्चारण करता है), मध्वॢकारमधीते (ॡकार का मधुर उच्चारण करता है) इन स्थलों में। यदि पूछो कि यह कहाँके ॡकार का अनुकरण है तो हम कहेंगे--क्लृप् धातु के ॡकार का। यदि क्लृप् धातु के ॡकार का (प्रकृतमें) अनुकरण है, तो हो, पर इसके लिये वर्णसमाम्नाय में ॡकार उपदेश करने का कुछ प्रयोजन नहीं। कारण कि क्लृप् का 'ॡ' पूर्वत्रासिद्धम् (८।२।१) से असिद्ध है, अच्-निमित्तक कार्य (प्रकृत में यण्) ऋ को मान कर हो जायगा। क्लृप् के ॡ के लिये उपदेश भले ही व्यर्थ हो। पर मध्वॢकार इत्यादि में जो 'ॡ' है वह क्लृप् का ॡ नहीं, किन्तु उसका अनुकार्य रूप से बोधन कराने के लिये अनुकरण-रूप है। (अनुकार्य अनुकरण का भेद

---

१. अपशब्दं प्रयुञ्जीत, अपशब्द को उसी अर्थ में प्रयुक्त करे तो उस ने वही क्रिया की, अनुकरण नहीं किया, इस से वह दोषी होगा।

कर्तव्यम्—प्रकृतिवदनुकरणं भवतीति । किं प्रयोजनम् । द्विः [1]पचन्त्वि-त्याह तिङ्ङतिङ इति निघातो यथा स्यात् । अग्नी इत्याह ईदूदेद्द्वि-वचनं प्रगृह्यमिति प्रगृह्यसंज्ञा यथा स्यात् । यदि प्रकृतिवदनुकरणं भवती-त्युच्यते, [2]अपशब्द एवासौ भवति—कुमार्य् लृतक इत्याह । ब्राह्मण्यॢतक इत्याह । अपशब्दो ह्यस्य प्रकृतिः । न चापशब्दः [3]प्रकृतिः । न ह्यपशब्दा उप-दिश्यन्ते । न चानुपदिष्टा प्रकृतिरस्ति ।

स्वीकार कर) इस अनुकरण रूप लृ में अच् कार्य हो सकें तदर्थ इसका वर्ण समाम्नाय में अचोंके मध्य में पाठ होना चाहिये । (इसपर एकदेशी कहता है) लृ के पाठ की कोई आवश्यकता नहीं । इसके स्थान में "प्रकृतिवदनुकरणं भवति" (अनुकरण में प्रकृति=अनुकार्य का धर्म आ जाता है) यह परिभाषा स्वीकार करनी चाहिये । (जिससे अनुकरण लृ में असिद्धता आ जायगी ।) तो इस परिभाषा का (और) क्या प्रयोजन है ? द्विः पचन्तु इत्याह—दो बार 'पचन्तु' इस शब्द का उच्चारण करता है—यहाँ अतिङन्त 'द्विः' शब्द से परे आए हुए 'पचन्तु' शब्द को तिङन्त मानने से उसे 'तिङ्ङतिङः' (८।१।२८) सूत्र से निघात (सर्वानु-दात्त) होता है । इसी प्रकार 'अग्नी इत्याह' में भी 'अग्नी' को द्वित्वबोधक द्विवच-नान्त मानकर प्रगृह्यसंज्ञा होकर प्रकृतिभाव होता है । और यदि 'प्रकृतिवत्—' इस परिभाषा को मान लो तो कुमार्य् लृतक इत्याह इत्यादि में अनुकरण 'लृतक' प्रकृति (अनुकार्य लृतक) के धर्म को लिये हुए अपशब्द ही ठहरता है । (अपशब्द = असाधु शब्द में शास्त्र की प्रवृत्ति न होने से इसके लिये लृ का उपदेश अनावश्यक है) । (इसपर सिद्धान्ती का कहना है) पर शास्त्र में कहीं भी अपशब्द प्रकृति नहीं ।

१. द्विः पचन्तु इत्याह में 'पचन्तु' शब्द तिङन्त प्रतिरूपक है, तिङन्त नहीं, शब्द परक निर्देश होने से क्रिया और कारक का यहाँ कुछ भी अभिधान नहीं, इसी प्रकार अग्नी इत्याह में 'अग्नी' द्विवचनान्त-प्रतिभासी होता हुआ भी द्वित्व का अनभिधायक होने से (अर्थात् दो अग्नियाँ इस अर्थ को न कहने से) द्विवचनान्त नहीं है । 'प्रकृतिवदनुकरणं भवति' इस न्याय से 'पचन्तु' को तिङन्त और 'अग्नी' को द्विवचनान्त मानकर शास्त्र प्राप्त कार्य किया गया है ।

२. मध्वॢकारमधीते इत्यादि में साधु 'लृ' के अनुकरण के लिये वर्ण समाम्नाय में लृकारोपदेश का कुछ भी प्रयोजन नहीं यह प्रतिपादन कर पूर्वपक्षी आगे कहता है और यह कहना चाहता है कि 'अशक्तिज' (अतएव असाधु) शब्द के अनुकरण के लिये भी लृकारोपदेश व्यर्थ है ।

३. प्रकरण से शास्त्रीय प्रकृति ही अभिप्रेत है, शास्त्र-निबन्धन कार्य का ही अतिदेश विधान किया जा रहा है । अपशब्दत्व न तो शास्त्रीय कार्य है और न उसका

एकदेशविकृतस्यानन्यत्वात्प्लुत्यादयः ॥

एकदेशविकृतमनन्यवद्भवतीति प्लुत्यादयोऽपि भविष्यन्ति । यदि एकदेशविकृतमनन्यवद्भवति इत्युच्येत, राज्ञः क च, राजकीयम् अल्लोपोऽन इति लोपः प्राप्नोति ।

एकदेशविकृतमनन्यवत् षष्ठीनिर्दिष्टस्य । यदि षष्ठीनिर्दिष्टस्येत्युच्यते क्लृ३प्तशिख इति प्लुतो न प्राप्नोति । न ह्यत्र ऋकारः षष्ठीनिर्दिष्टः । कस्तर्हि । रेफः । ऋकारोऽप्यत्र षष्ठीनिर्दिष्टः । कथम् । अविभक्तिको निर्देशः—कृप उः रः लः कृपो रो ल इति ।

आचार्य ने अपशब्दों का उच्चारण नहीं किया और बिना उच्चारण किये प्रकृति नाम का कोई पदार्थ नहीं है ।

(वा०) रहे प्लुति आदि कार्य, वे भी 'ऋ' के अवयव-भूत रेफ को लत्व रूप विकार हो जानेपर भी अन्य न हो जाने से सिद्ध हो जायंगे (सो उन कार्यों के लिये भी 'लृ' का उपदेश अनावश्यक है) । [लोक में भी देखा जाता है किसी वस्तु के एकदेश के विकृत हो जाने से वह अन्य नहीं हो जाती । पूँछ कट जानेपर भी यह कुत्ता है ऐसा व्यवहार होता ही है] पर प्रयोजनवादी इस लौकिक न्याय को मानने में यह दोष देखता है—'राज्ञः क च' (४।२।१४०) इस सूत्र से राजन् शब्द से शैषिक 'छ' प्रत्यय होता है और साथ ही 'क' अन्तादेश होता है । जिससे राजकीय शब्द सिद्ध होता है । यदि एकदेश विकृत होनेपर राजक् में राजन् बुद्धि बनी रहती है तो 'अल्लोपोऽनः' (६।४।१३४) इस शास्त्र से अल्लोप होना चाहिये । इसपर प्रत्याख्याता कहता है—एकदेश विकृत होनेपर वही स्थानी अन्यवत् नहीं होता जिसका विकार (=आदेश) विधायक शास्त्र में षष्ठी से निर्देश किया गया हो । प्रकृत सूत्र में 'अनः' ऐसा षष्ठी निर्देश करके 'अक' रूप आदेश नहीं विधान किया है, किन्तु राजन् के 'न' के स्थान में क् अन्तादेश विधान किया है, सो यहाँ राजक् रूप के 'अक्' में 'अन्' बुद्धि नहीं लाई जा सकती है । 'अन्' न होने से "अल्लोपोऽनः" का प्रसङ्ग नहीं । इसपर शङ्का होती है—यदि षष्ठी-निर्दिष्ट में ही एकदेशविकार होनेपर अनन्य बुद्धि होती है तो 'क्लृ३प्तशिख' में कृपो रो लः सूत्र में 'ऋ' के षष्ठी-निर्दिष्ट न होने से लृ में (ऋ का धर्म) अच्त्व नहीं आएगा, सो प्लुत न हो सकेगा । क्योंकि उक्त सूत्र में रेफ षष्ठीनिर्दिष्ट है, न कि ऋकार । नहीं । ऋकार भी यहाँ षष्ठीनिर्दिष्ट है । कैसे ? सूत्र में 'कृप' यह विभक्ति रहित निर्देश है, ततः 'उः' यह ऋ का षष्ठी से निर्देश है । ततः 'रः' यह भी षष्ठ्यन्त पढ़ा है ।

अतिदेश किया जा सकता है । इस कथन से भाष्यकार अशक्तिज के अनुकरण के लिये लृकारोपदेश आवश्यक है इसकी स्थापना करते हैं ।

अथवा पुनरस्तु अविशेषेण । ननु चोक्तं राज्ञः क च राजकीयम् . अल्लोपोऽन इति प्राप्नोति इति । नैष दोषः । वक्ष्यत्येतत् श्वादीनां सम्प्रसारणे नकारान्तग्रहणमनकारान्तप्रतिषेधार्थम् इति । तत्प्रकृतमुत्तरत्रानुवर्तिष्यते—अल्लोपोऽनः, नकारान्तस्येति । इह तर्हि क्लृ३प्तशिख[1] अनृत इति प्रतिषेधः प्राप्नोति ।

रवत्प्रतिषेधाच्च ।

रवत्प्रतिषेधाच्चैतत्सिध्यति । गुरोररवत[2] इति वक्ष्यामि । यदि अरवत इत्यु-

---

अथवा जो भी कोई एकदेश-विकृत होता है (चाहे वह विकार विधि में षष्ठी निर्दिष्ट हो अथवा न हो) वह अन्यवत् नहीं होता, ऐसा ही कहो ।

अजी; अभी कहा था—राज्ञः क च सूत्र से राजकीय शब्द निष्पन्न होता है । यहाँ अल्लोपोऽनः सूत्र से राजक् में राजन् बुद्धि के बने रहने से अन् के 'अ' का लोप प्राप्त होता है । यह कोई दोष नहीं । आगे (६।४।१३३ पर) वार्तिककार श्वादीनां सम्प्रसारणे……… इत्यादि वार्तिक पढ़ेंगे जिसका अर्थ यह है कि नकारान्त श्वन् आदि शब्दों को सम्प्रसारण हो, अनकारान्तों को न हो । उसकी अनुवृत्ति अल्लोपोऽनः (६।४।१३४) सूत्र में आएगी, अर्थ होगा नकारान्त अन् । (यहाँ तो ककारान्त अन् है) । पर इस न्याय के बल पर लृ में ऋ बुद्धि होने से क्लृ३प्तशिख में गुरोरनृतोऽनन्त्यस्याप्येकैकस्य प्राचाम् (८।२।८६) सूत्र से ऋ को प्लुत का निषेध प्राप्त होता है ।

रेफवान् का प्रतिषेध करने से (क्लृ३प्तशिख में) प्लुत रूप इष्ट सिद्धि हो जायगी गुरोररवत इस प्रकार सूत्र को पढ़ूँगा । यदि ऐसा न्यास करोगे अर्थात् जो रेफवाला न हो उसे प्लुत होता है ऐसा कहोगे तो होतृ ऋकार यहाँ सवर्णदीर्घ होकर होतॄ ३ कार

---

१. भाव यह है कि लौकिक न्याय से द्वित्व और स्वरित क्लृपिस्थ 'लृ' में ऋ बुद्धि करके सिद्ध हो जायँगे उससे 'लृ' में अच्त्व आ जाएगा, पर 'क्लृ३प्तशिख' में प्लुत न हो सकेगा, अतः जैसे अशक्तिज के अनुकरण के लिये लृकारोपदेश आवश्यक है वैसे ही प्लुति के लिये भी 'लृ' पढ़ना होगा ।

२. 'गुरोरनृतः—'इस को बदल कर 'गुरोररवतः–'इत्यादि रूप से पढ़ूँगा—यह लृकारोपदेश-खण्डक (लृकारोपदेश के प्रयोजन को न माननेवाला) कहता है । इस नये न्यास से प्रयोजनवादी द्वारा दिये गये दोष का परिहार करना चाहता है । यहाँ 'रवान्' में नित्ययोग में मतुप् किया है । नित्य रेफ वाला 'ऋ' ही है 'लृ' नहीं (यद्यपि लृ में एकदेश विकृतन्याय से ऋबुद्धि हो जाएगी, पर जैसे पुच्छहीन श्वा में श्वत्व व्यपदेश होने पर भी पुच्छवान् यह व्यवहार नहीं होता, ऐसे ही 'लृ' रेफवान् है ऐसा व्यवहार नहीं होता ।

च्यते होतृ ऋकार होत ३ कार अत्र न प्राप्नोति। 'गुरोररवतो ह्रस्वस्य'' इति वक्ष्यामि। स एष सूत्रभेदेन लृकारोपदेशः प्लुत्याद्यर्थः सन्प्रत्याख्यायते, सैषा महतो वंशास्तम्बाल्लट्वाऽनुकृष्यते॥

एओङ्॥ ३॥ ऐ औच्॥ ४॥

इदं विचार्यते—इमानि सन्ध्यक्षराणि तपराणि वोपदिश्येरन् एत् ओतङ् ऐत् औत् च् इति, अतपराणि वा यथान्यासम् इति। कश्चात्र विशेषः।

सन्ध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारणम्।

सन्ध्यक्षरेषु तपरोपदेशश्चेत्तपरोच्चारणं कर्तव्यम्।

प्लुत्यादिष्वज्विधिः।

प्लुत्यादिष्वजाश्रयो विधिर्न सिध्यति। गो३ त्रात नौ ३ त्रात इत्यत्र अनचि च इत्यच उत्तरस्य यरो द्वे भवत इति द्विर्वचनं न प्राप्नोति। इह च प्रत्यङ्ङै३तिकायन, उदङ्ङौ ३ पगव इति अचि इति ङमुडागमो न प्राप्नोति।

में प्लुत न हो सकेगा, कारण कि ऋ रेफवान् है। इस दोष के वारण के लिये मैं गुरोररवतो ह्रस्वस्य ऐसा पढ़ूँगा। सो यह सूत्र को अदलबदल कर के जो प्लुति आदि कार्यों के लिये लृकारोपदेश प्रयोजनवान् है उस का प्रत्याख्यान एक बड़े वंश स्तम्ब (बांसभुट) से लट्वा नामक (तुच्छ फल) को खेंच कर उतारने के समान है। (अर्थात् आयास अत्यधिक और फल अत्यल्प, अतः युक्त नहीं)॥

ए ओङ्॥ ३॥ ऐ औच्॥ ४॥

यहाँ यह विचार का विषय है—ये सन्ध्यक्षर 'तपर'' पढ़े जायं, एत् ओतङ् ऐत् औत् च् इस प्रकार, अथवा ''अतपर'' जैसे कि सूत्रों में पढ़े हैं। इस में क्या भेद है?

(वा०) सन्ध्यक्षरों (ए ओ ऐ औ) में यदि तपरोच्चारण का फल है तो इन्हें ''तपर'' पढ़ना चाहिये। (पर फल न होने से आचार्य ने तपर नहीं किया)

(वा०) प्लुत आदि होने पर अच् को मानकर जो विधि प्राप्त होती है वह न हो सकेगी। गो ३ त्रात यहाँ 'अनचि च' इस सूत्र से अच् से परे यर् को द्विर्वचन विधान किया है, सो (द्विमात्रिक ओ, औ की अच् संज्ञा होनेसे) न हो सकेगा। और प्रत्यङ्ङै ३ तिकायन, उदङ्ङौ ३ पगव यहाँ अच् को आश्रय करके जो ङमुट् आगम का विधान किया है (तपर होने से द्विमात्रिक ए, ओ, ऐ औ की अच् संज्ञा होगी, त्रिमात्रिक की नहीं।) सो यह ङमुट् आगम न हो सकेगा।

---

१. ऐसा न्यास करने से नित्य रेफवान् जो ह्रस्व हो उसी को प्लुत का निषेध होगा, दीर्घ को नहीं, इस से कुछ भी अनिष्ट–प्रसङ्ग न होगा। गुरोररवतो ह्रस्वस्य=गुरोरवतो ह्रस्वस्य न। 'अमानोनाः प्रतिषेधे' इस वचन के आधार पर व्यस्त 'अ' शब्द निषेधार्थ स्वीकार किया जाता है।

प्लुतसंज्ञा च ।

प्लुत संज्ञा च न सिध्यति । ऐ ३ तिकायन, औप ३ गव ऊकालोऽज्झ्रस्व-दीर्घप्लुत इति प्लुतसंज्ञा न प्राप्नोति । सन्तु तर्ह्यतपराणि ।

अतपर एच इग्घ्रस्वादेशे ।

यद्यतपराणि[१] एच इग्घ्रस्वादेश इति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । एङो ह्रस्वा-देशशासनेष्वर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वा मा भूदिति । ननु च यस्यापि[२] तपराणि तेनाप्येतद्वक्तव्यम् । इमावैचौ समाहारवर्णौ मात्रावर्णस्य मात्रेवर्णोवर्णयोः, तयो ह्रस्वादेशशासनेषु कदाचिदवर्णः स्यात्, कदाचिद् इवर्णोवर्णौ । मा कदाचिद-

---

(वा०) प्लुतसंज्ञा भी ।

प्लुत सञ्ज्ञा भी न हो सकेगी । ऐ ३ तिकायन, औ ३ पगव । ऊकालो ज्झ्रस्वदीर्घ प्लुत इस शास्त्र से तपर (द्विमात्रिक) एच् की अच् संज्ञा होने से त्रिमात्रिक एच् अच् ही नहीं तो उसकी प्लुत संज्ञा कैसे होगी ? त्रिमात्रिक अच् की ही तो प्लुत संज्ञा विधान की है ।

(वा०) यदि ए ओ ऐ औ अतपर ही रहें जैसे पढ़े हैं, तो एच् के स्थान में ह्रस्वा देश कर्तव्य हो तो इक् ही ह्रस्व हो यह वचन करना पड़ेगा । इस वचन का क्या प्रयो-जन है ? जहाँ जहाँ एङ् को ह्रस्वादेश विधान किया गया है वहाँ वहाँ अर्ध एकार, अर्ध ओकार न हो जाय । अजी, जो इन्हें तपर पढ़ना चाहता है उसे भी यह वचन (सूत्र) करना ही होगा । (कारण कि) ये ऐच् (ऐ औ) समाहार वर्ण हैं, जिनमें एक मात्रा अवर्ण की है और एक-एक मात्रा इवर्ण और उवर्ण की । उनको ह्रस्व करते समय कभी अवर्ण हो जायगा कभी इवर्ण वा उवर्ण । अवर्ण कभी भी न हो (इसलिये)। ऐच् को ह्रस्वत्व कर्तव्य हो तो 'एच इग्घ्रस्वादेशे' (१ १।४८) इस वचन से कुछ प्रयोजन नहीं । ऐचोश्चोत्तरभूयस्त्वात् इस वार्तिक से इसका प्रत्याख्यान कर दिया

---

१. अतपरत्व की दशा में ए, ओ द्विमात्रिक भी होंगे, एकमात्रिक भी । एकमात्रिक ए ओ का भी अच् करके ग्रहण होगा । द्विमात्रिक ए ओ के स्थान में अन्तरतम होने से अर्ध ए, अर्ध ओ (एक मात्रिक ए, एकमात्रिक ओ) ह्रस्व हो जायंगे, सो एङ् के लिये सूत्र करना पड़ेगा ।

२. तपरत्व पक्ष में भी ऐच् के लिये सूत्र के आरम्भ की आवश्यकता है कारण कि ऐच् समाहार वर्ण हैं, इन में अवर्ण, इवर्ण और उवर्ण एक-एक मात्रा के हैं जिससे कभी अ (ह्रस्व) होगा और कभी इ वा उ । ऐच् में अवर्ण के विश्लिष्ट = स्फुट उपलभ्यमान होने से संश्लिष्ट अवर्ण होने की अवस्था में प्रसक्त हुए अर्ध एकार व अर्ध ओकार ह्रस्वादेश का तो संभव नहीं ।

वर्णो भूदिति। प्रत्याख्यायत एतत्—ऐचोश्चोत्तर भूयस्त्वा'द् इति। यदि प्रत्याख्यानपक्षः, इदमपि प्रत्याख्यायते—सिद्धमेङः सस्थानत्वाद् इति। ननु चैङः सस्थानतरावर्ध एकारोऽर्ध ओकारः। न तौ स्तः। यदि हि तौ स्यातां तावेवायमुपदिशेत्। ननु च भोश्छन्दोगानां सात्यमुग्रिराणायनीया अर्धमेकारमर्धमोकारं चाधीयते—सुजाते एश्वसूनृते, अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते एन्यद्, यजतं ते एन्यद इति। पारिषदकृतिरेषा तत्र भवताम्। नैव लोके नान्यस्मिन्वेदेऽर्ध एकारोऽर्ध ओकारो वाऽस्ति।

एकादेशे दीर्घग्रहणम्।

एकादेशे दीर्घग्रहणं कर्तव्यम्—आद्गुणो दीर्घः, वृद्धिरेचि दीर्घः इति। किं प्रयोजनम्। आन्तर्यतस्त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा

है। रही एङ् को ह्रस्व कर्तव्यता के निमित्त "एच इग्" इस सूत्र की आवश्यकता, सो भी नहीं। "सिद्धमेङः सस्थानत्वात्" इस वार्तिक से सूत्र का प्रत्याख्यान कर दिया है। वार्तिकार्थ यह है—एङ् के स्थान में ह्रस्वादेश इ, उ ही होंगे कारण कि इ उ, ये ए, ओ के तुल्य स्थान वाले हैं। अजी, अर्ध एकार अर्ध ओकार इनके साथ अधिक स्थान तुल्यता रखते हैं (वे हो जायंगे)। नहीं। वे तो हैं ही नहीं। यदि वे होते तो आचार्य उन्हीं को पढ़ते। अजी, यह कैसे कहते हो कि अर्ध एकार अर्ध ओकार हैं ही नहीं, देखिये सात्य अग्रिराणायनीय सामगान करने वाले ऋषि सुजाते एश्व सूनृते, अध्वर्यो ओद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते एन्यद् यजतं ते एन्यत् इत्यादि मन्त्रों में अर्ध एकार अर्ध ओकार पढ़ते हैं। यह तो उन पूज्यों की अपनी परिषदों में उच्चारण करने की रीति है। न तो लोक में और न ही किसी दूसरे (साम से भिन्न) वेद में अर्ध एकार अर्ध ओकार देखा जाता है।

(वा०) एकादेश में दीर्घ का ग्रहण।

जहाँ (पूर्व और पर के स्थान में) एकादेश विधान किया है वहाँ दीर्घ का ग्रहण (उच्चारण) करना पड़ेगा—आद् गुणः इस सूत्र को आद्गुणो दीर्घः ऐसे पढ़ना पड़ेगा, वृद्धिरेचि इसे वृद्धिरेचि दीर्घः ऐसे पढ़ना पड़ेगा। इसका क्या प्रयोजन है? जहाँ (पूर्व और पर) स्थानी (मिलकर) त्रिमात्र व चतुर्मात्र हो जाते हैं वहाँ उनके स्थान में एकादेश कहीं त्रिमात्र व चतुर्मात्र न हो जाय, कारण कि आदेश स्थानी के अन्तरतम=सदृशतम होना चाहिये। दीर्घ ग्रहण करने से द्विमात्रिक एच्

---

१. ऐ औ में 'अ' की ½ मात्रा और इ,उ की १½ मात्रा है, इस लिये कहा है यहां उत्तर भाग भूयान् (अपेक्षया अधिक) है।

२. एङः सस्थानत्वात्। प्रातिशाख्य मत है कि ए, ओ शुद्ध तालव्य और शुद्ध कण्ठ्य हैं।

आदेशा मा भूवन्निति । खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकम् खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेषा, खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका, खट्वा ओदनः खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगवः इति । तत्तर्हि दीर्घग्रहणं कर्तव्यम् । न कर्तव्यम् । उपरिष्टाद् योगविभागः करिष्यते — अकः सवर्णे एको भवति । ततो दीर्घः । दीर्घश्च स भवति । यः स एकः पूर्वपरयोः इत्येवं निर्दिष्ट इति । इहापि तर्हि प्राप्नोति— पशुम्, विद्धम्, पचन्तीति । नैष दोषः । इह तावत्पशुमिति 'अम्येकः' इतीयता सिद्धम् । सोऽयमेवं सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनं यथाजातीयकः पूर्वस्तथाजातीयक उभयोर्यथा स्यादिति । विद्धमिति । पूर्व इत्येवानुवर्तते । अथवाऽऽचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—नानेन सम्प्रसारणस्य

(ए ओ, ऐ औ) ही आदेश होगा । खट्वा इन्द्रः=खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकम्=खट्वोदकम्, खट्वा ईषा=खट्वेषा, खट्वा ऊढा=खट्वोढा, खट्वाएलका=खट्वैलका, खट्वा ओदनः=खट्वौदन, खट्वा ऐतिकायनः=खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः=खट्वौपगवः (यहाँ पहले चार उदाहरणों में स्थानियों के त्रिमात्र होने से आदेश त्रिमात्र प्राप्त था, पिछले चार उदाहरणों में स्थानियों के चतुर्मात्र होने से आदेश चतुर्मात्र प्राप्त था) । तो क्या दीर्घग्रहण करना ही पड़ेगा ? दीर्घ ग्रहण नहीं करना पड़ेगा । (कैसे ?) अगले सूत्र 'अकः सवर्णे दीर्घः' को इस प्रकार विभक्त करके पढ़ेंगे—(१) अकः सवर्णे एको भवति (यहाँ 'एकः पूर्वपरयोः' से 'एकः' यह आ रहा है), दीर्घः, वह दीर्घ होता है (कौन ?) वही जो पूर्व और पर के स्थान में 'एक' हुआ है । अच्छा यहाँ (दिये हुए गुण वृद्धि के उदाहरणों में) तो निर्वाह हो जायगा, पर इससे अन्यत्र भी दीर्घ की प्राप्ति हो जायगी—पशुम्, विद्धम्, पचन्ति इत्यादि स्थलों में (यहाँ सर्वत्र एकादेश विधि है) । नहीं इससे कुछ दोष नहीं आयगा । पहले 'पशुम्' को लीजिये । यहाँ 'अम्येकः' ऐसा सूत्र न्यास करते तो भी एकादेश हो जाता, फिर 'अमि पूर्वः' ऐसा जो न्यास किया अर्थात् जो वहाँ 'पूर्व' ग्रहण किया उसका यह प्रयोजन है जिस प्रकार का पूर्व (स्थानी) है उसी प्रकार का आदेश दोनों के स्थान में हो (इससे पशुम् में ह्रस्व एकादेश, रमाम् और वातप्रमीम् में दीर्घ होता है) । विद्धम्—यहाँ व्यध् क्त इस अवस्था में ग्रहिज्या—सूत्र से य् को सम्प्रसारण 'इ' हो जानेपर सम्प्रसारणाच्च (६।१।१०८) सूत्र में 'पूर्वः' की अनुवृत्ति होने से पूर्व के ही सदृश एक आदेश होता है, पूर्व ह्रस्व इ के सदृश ही अ, इ—इन दोनों के स्थान में आदेश होता है ।

अथवा आचार्य (पाणिनि) की प्रवृत्ति बतलाती है कि 'सम्प्रसारणाच्च' से

दीर्घो भवतीति यदयं हल उत्तरस्य सम्प्रसारणस्य दीर्घत्वं शास्ति। पचन्तीति। 'अतो गुणे परः' इतीयता सिद्धम्। सोऽयमेवं सिद्धे सति यद्रूपग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनम् यथाजातीयकं परस्य रूपं तथाजातीयकमुभयोर्यथा स्यादिति। इह तर्हि खट्वर्श्यो मालर्श्य इति दीर्घवचनादकारो न, अनान्तर्यादेकारौकारौ न। तत्र को दोषः। विगृहीतस्य श्रवणं प्रसज्येत। न ब्रूमो यत्र क्रियमाणे दोषस्तत्र कर्तव्यमिति। किं तर्हि। यत्र क्रियमाणे न दोषस्तत्र कर्तव्यमिति। क्व च क्रियमाणे न दोषः। संज्ञाविधौ—वृद्धिरादैच् दीर्घः, अदेङ् गुणो दीर्घ इति। तत्तर्हि दीर्घग्रहणं कर्तव्यम्। न कर्तव्यम्। कस्मादेवान्तर्यतस्त्रिमात्र चतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति। तपरे गुणवृद्धी। ननु च तः परो यस्मात्सोऽयं तपरः। नेत्याह। तादपि परस्तपरः। यदि तादपि

जो एकादेश होता है वह दीर्घ नहीं होता, कारण कि आचार्य 'हलः' (६।४।२) इस सूत्र से जो सम्प्रसारण को दीर्घ विधान करते हैं वह नियमार्थ रहेगा। 'पचन्ति' (पच् अ अन्ति) में 'अतो गुणे परः' ऐसा कहने से ही पर-रूप एकादेश हो जाता, तो भी जो रूप ग्रहण करते हैं (अतो गुणे पररूपम्) इससे यह जतलाना चाहते हैं कि यहाँ जैसा पर का रूप है (वह ह्रस्व है) वैसा ही दोनों के स्थान में एकादेश होता है। अच्छा तो खट्वा ऋश्यः, माला ऋश्यः यहाँ गुण न हो सकेगा। एकादेश दीर्घ होता है इससे अकार (जो गुणसंज्ञक है) न हो सकेगा। एकार और ओकार (जो दीर्घ गुणसंज्ञक हैं) भी न हो सकेंगे, क्योंकि वे स्थानियों के अन्तरतम नहीं हैं। ऐसी अवस्था में खट्वा ऋश्यः, माला ऋश्यः ऐसा जुदा-जुदा ही श्रवण होगा, यह दोष आयगा।

हम यह नहीं कहते हैं कि जहां दीर्घ ग्रहण करने से दोष आता है वहाँ दीर्घ ग्रहण किया जाय, किन्तु जहां दीर्घ ग्रहण करने से दोष नहीं आता वहां दीर्घ ग्रहण करना चाहिये। कहां दीर्घ ग्रहण करने से दोष नहीं आता? संज्ञा विधि में। वृद्धि संज्ञा-विधायक वृद्धिरादैच् सूत्र को वृद्धिरादैच् दीर्घः ऐसे पढ़ेंगे। गुण-संज्ञा-विधायक सूत्र को अदेङ् गुणो दीर्घः ऐसे पढ़ेंगे। तो क्या फिर दीर्घ ग्रहण करना चाहिये? नहीं करना चाहिये। तो फिर त्रिमात्र चतुर्मात्र स्थानियों को सदृशतम त्रिमात्र चतुर्मात्र (गुण-वृद्धि रूप) आदेश क्यों न होंगे? गुणवृद्धिसंज्ञा-विधायक शास्त्र में संज्ञी एङ् व ऐच् 'तपर' पढ़े हैं। अजी 'तपर' का अर्थ तो 'तः परो यस्मात् सोऽयं तपरः (त् परे हो जिससे वह 'तपर' होता है) ऐसा बहुव्रीहि समास मान कर अर्थ किया जाता है। नहीं। पञ्चमी तत्पुरुष मानकर 'तादपि परस्तपरः' त् से जो परे हो वह भी "तपर" कहलाता है। इससे तपर (तत्काल=द्विमात्रिक ए ओ की गुण संज्ञा, और तत्काल =द्विमात्रिक ऐ औ की वृद्धि संज्ञा होगी)। यदि 'त्' से परे जो हो वह भी

परस्तपरः ऋदोरप् इतीहैव स्यात्—यवः स्तवः, लवः पव इत्यत्र न स्यात्। नैष तकारः। कस्तर्हि। दकारः। किं दकारे प्रयोजनम्। अथ किं तकारे[1]। यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोऽपि। अथ मुखसुखार्थस्तकारः, दकारोपीति।

इदं विचार्यते—य एते वर्णेषु वर्णैकदेशा[2] वर्णान्तर-समानाकृतय एतेषामवयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा न वेति। कुतः पुनरियं विचारणा। इह हि समुदाया[3]

'तपर' होता है तो ऋदोरप् (३।२।५७) इस सूत्र से (उ के 'तपर' होने से) यवः स्तवः में ही अप् प्रत्यय हो सकेगा, लवः, पवः में नहीं। (क्यों कि यहाँ लू, पू—ये दीर्घ ऊकारान्त धातु हैं)। यहाँ स्वतः सिद्ध तकार नहीं जिसे जश्त्व होकर दकार हो गया है, किन्तु स्वतः सिद्ध दकार है। दकार का क्या प्रयोजन है? हम आपसे पूछते हैं तकार का क्या प्रयोजन है? यदि कहो असन्देह (सन्देह निवृत्ति के लिये) तकार पढ़ा है, दकार का भी असन्देह के लिये ही उच्चारण माना जा सकता है। यदि कहो तकार, उच्चारण-सौकर्य के लिये पढ़ा है, दकार का भी वही प्रयोजन माना जासकता है।

अत्र यह विचार का विषय है—ये जो वर्णों में वर्तमान वर्णों के अवयव जो स्वतन्त्र वर्णों के समानाकार हैं अवयव सदृश स्वतंत्र वर्ण मानकर जो कार्य स्वतन्त्र वर्णों को प्राप्त होता है वह इन में होगा अथवा नहीं। यह विचार (सन्देह) क्योंकर उत्पन्न होता है? इस लिये कि यहाँ शास्त्र में समुदायों का भी उपदेश है और उन के

१. समास-द्वय-वादी पूछता है—आप जो यहाँ केवल बहुव्रीहि समास मानते हैं, तो तपरकरण व्यर्थ हो जाता है। दीर्घ ऋकार अण् नहीं। अतः अणुदित्सूत्र से तद्भिन्नकाल वाले ऋकारों के ग्रहण का कोई प्रसङ्ग नहीं। अनण् होने से (अण् न होने से) ही गुण अभेदक होंगे, अतः उनकी प्राप्ति (तद्भेद भिन्नों के ग्रहण) के लिये भी 'तपर' करने का कुछ प्रयोजन नहीं।

२. आकार आदि में अकार आदि सदृश अवयव, ऋकार लृकार में रेफ लकार सदृश अवयव, सन्ध्यक्षरों में अकार इकार उकार सदृश अवयव दीख पड़ते हैं, इन में केवल (=स्वतन्त्रतया प्रयोग में श्रूयमाण) अकारादि को जो कार्य प्राप्त होता है, वह होगा अथवा नहीं—यह विचार है।

३. समुदायों का भी उपदेश है यथा ऋलृ, ए, ऐ ओ औ का। अवयवों का भी, जैसे अ इ उ (ण्) र (ट्) ल (ण्) का। यहाँ दो पक्ष उपस्थित होते हैं—(१) ग्रहणपक्ष (२) अग्रहणपक्ष। ग्रहणपक्ष में सन्देह का बीज यह है कि जहाँ समुदाय परक निर्देश है (यथा ऋलृ ए ऐ इत्यादि) वहाँ अवयवों (रेफ ल अ इ इत्यादि) का प्राधान्य से निर्देश नहीं। तिसपर अवयव भूत अकार की एच् आदि समुदायसंज्ञा न होने पर भी स्वतन्त्र अकार के रूप में उस का ग्रहण संभवी है। अग्रहण पक्ष में

अभ्युपदिश्यन्ते अवयवा अपि। अभ्यन्तरश्च समुदायेऽवयवः। तद्यथा वृक्षः प्रचलन्सहावयवैः प्रचलति। तत्र समुदायस्थस्यावयवस्यावयवग्रहणेन ग्रहणं स्याद्वा नवेति विचारणा। कश्चात्र विशेषः।

वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्सन्ध्यक्षरे समानाक्षर[1]विधिप्रतिषेधः।

वर्णैकदेशा वर्णग्रहणेन चेत्सन्ध्यक्षरे समानाक्षराश्रयो विधिः प्राप्नोति, स प्रतिषेध्यः। अग्ने इन्द्र, वायो उदकम्, अकः सवर्णे दीर्घ इति दीर्घत्वं प्राप्नोति।

दीर्घे ह्रस्वविधिप्रतिषेधः।

दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिः प्राप्नोति स प्रतिषेध्यः। आलूय प्रलूय ह्रस्वस्य

अवयवों का भी। और अवयव समुदाय के भीतर वर्तमान होता है, जिस प्रकार वृक्ष जब हिलता है तो अपने अवयवों को साथ लिये हुए ही हिलता है। इस लिये समुदाय के भीतर वर्तमान अवयव को पृथग्ग्रहण कर के तन्निमित्त कार्य होना चाहिये अथवा नहीं, यह सन्देह होता है। तो इन दोनों पक्षों में क्या विशेष है?

(वा०) वर्णों के अवयवों को यदि स्वतन्त्र वर्ण (जिनके वे सदृश हैं) मान लिया जाय तो सन्ध्यक्षरों में समानाक्षरों के आश्रित जो विधि प्राप्त होती है उसका प्रतिषेध करना होगा—अग्ने इन्द्र—यहाँ सन्ध्यक्षर 'ए' के अवयव 'इ' को पृथक् वर्ण मानकर अकः सवर्णे दीर्घः इस सूत्र से दीर्घ प्राप्त होता है। इसी तरह वायो उदकम्—यहाँ भी 'ओ' के अवयवभूत 'उ' को मानकर दीर्घ प्राप्त होता है।

(वा०) दीर्घ में ह्रस्व के आश्रित जो विधि प्राप्त होती है उसका प्रतिषेध करना होगा। आलूय प्रलूय—यहाँ लू के ऊकार के अवयव ह्रस्व 'उ' को पृथग् वर्ण मानकर ह्रस्वस्य पिति कृति तुक् इस सूत्र से तुक् का आगम प्राप्त होता है। यह कोई दोष

अवयवों के समुदाय में तिरोहित होने से समुदाय के घटकतया उपकारक होने से, अपने कार्य के प्रति अप्रयोजक होने से जैसे नरसिंह में नरत्वादि कुछ भी नहीं समुदाय एच् आदि के अवयव में 'अत्व' आदि कुछ भी न होने से वर्णान्तर के साथ सारूप्यमात्र से उस में तन्निबन्धन कार्य नहीं होना चाहिये—यह शङ्का का बीज है। इस पक्ष में वृक्ष का दृष्टान्त दिया है। समुदाय को कार्य हुआ तो उसके अवयवों को अपने आप होगया, समुदाय-रूप वृक्ष के कम्प में अवयवों का कम्प नान्तरीयकतया सिद्ध ही है।

१. समान शब्द से यहाँ पूर्वाचार्यों के संकेतानुसार 'अक्' वर्णों का ग्रहण होता है। पूर्वाचार्यों का सूत्र है—'दश समानाः'—अ आ इ ई उ ऊ ऋ ॠ ऌ ॡ—ये दस 'समानाक्षर' कहलाते हैं।

पिति कृति तुग् इति तुक् प्राप्नोति। नैष दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न दीर्घे ह्रस्वाश्रयो विधिर्भवतीति यदयं दीर्घाच्छे तुकं शास्ति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्ति ह्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्? 'पदान्ताद्वा'[1] इति विभाषां वक्ष्यामीति। यत्तर्हि योगविभागं करोति। इतरथा हि दीर्घात्पदान्ताद्वा इत्येव ब्रूयात्। इह तर्हि—खट्वाभिः, अतो भिस ऐस् इत्यैस्भावः प्राप्नोति। तपरकरणसामर्थ्यान्न भविष्यति। इह तर्हि याता वाता अतो लोप आर्धधातुके इत्यकारलोपः प्राप्नोति। ननु चात्रापि तपरकरणसामर्थ्यादेव न भविष्यति। अस्ति ह्यन्यत्तपरकरणे प्रयोजनम्। किम्। सर्वस्य[2] लोपो मा भूदिति। अथ क्रियमाणे पि तपरे परस्य लोपे कृते पूर्वस्य कस्मान्न भवति। परलोपस्य स्थानिवद्भावादसिद्धत्वाच्च[3]। एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति नाकारस्थस्याऽ-

---

नहीं। आचार्य की प्रवृत्ति बतलाती है कि दीर्घ में (उसके अवयव) ह्रस्व के आश्रित विधि नहीं होती, क्योंकि आचार्य दीर्घ से परे छ परे होनेपर तुक् का विधान करते हैं। यह ज्ञापक नहीं बन सकता। इस वचन का कुछ और प्रयोजन है। क्या? पदान्ताद्वा इस विकल्प विधायक शास्त्र में दीर्घात् इसकी अनुवृत्ति हो, इसलिये। अच्छा तो जो दीर्घात्पदान्ताद्वा इस प्रकार एक सूत्र न करके योग विभाग करके 'दीर्घात्' यह जुदा सूत्र पढ़ा है यह ज्ञापक रहेगा। (अन्यथा अपदान्त दीर्घ, चेच्छिद्यते इत्यादि के चकारोत्तरवर्ती 'ए' के अवयव इ (ह्रस्व) से परे 'छे च' से ही तुक् की सिद्धि हो जाने से दीर्घ ग्रहण व्यर्थ होता)। अच्छा तो 'खट्वाभिः' यहाँ ह्रस्वाश्रय विधि अतो भिस ऐस् से भिस् के स्थान में ऐस् प्राप्त होता है। (उत्तर) अकार को तपर करने के बलपर यहाँ ऐस् नहीं होगा (प्रकृत में यदि ऐस् हो जाय तो तपरकरण व्यर्थ हो जाय)। अच्छा तो याता वाता—यहाँ अतो लोप आर्धधातुके इस सूत्र से 'आ' के भीतर के ह्रस्व 'अ' का लोप होना चाहिये। अजी यहाँ भी तपरकरण के बलपर ही लोप नहीं होगा। नहीं, यहाँ तपरकरण का कोई दूसरा प्रयोजन है। क्या!। सारे दीर्घ 'आ' का लोप न हो जाय ('आ' के एक अवयव 'अ' का लोप तो होगा ही)। यदि पूछो तपर करने पर भी परले 'अ' का लोप होनेपर पूर्व 'अ' का लोप क्यों नहीं होता तो हम कहेंगे स्थानिवद्भाव होने से और असिद्ध होने से। ऐसी अवस्था में आचार्य प्रवृत्ति बतलाती है—

---

१. यदि 'दीर्घात्' ऐसा न पढ़ा जाय तो 'कुड्यच्छाया' यहाँ भी विकल्प से तुक् होगा।

२. अतपर होनेपर 'अ' अपने सवर्णों का ग्राहक होगा, जिससे सम्पूर्ण 'आ' का लोप होने लगेगा।

३. असिद्धवदत्राभात् (६।४।२२) इस शास्त्र से। यह इस तरह समझना

ऽकारस्य लोपो भवतीति। यदयम् आतोऽनुपसर्गे कः इति ककारमनुबन्धं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। कित्करणे एतत्प्रयोजनम्—कितीत्याकारलोपो यथा स्यादिति। यद्याकारस्थस्याऽकारस्य लोपः स्यात्, कित्करणमनर्थकं स्यात्। परस्याकारस्य लोपे कृते द्वयोरकारयोः पररूपे हि सिद्धं रूपं स्याद् गोदः कम्बलद इति। पश्यति त्वाचार्यो नाकारस्थस्याऽकारस्य लोपः स्यादिति, अतः ककारमनुबन्धं करोति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। उत्तरार्थमेतत्स्यात्—तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः इति। यत्तर्हि गापोष्टक् इत्यनन्यार्थं[1] ककारमनुबन्धं करोति।

आकार के भीतर वर्तमान 'अ' का लोप नहीं होता, क्यों कि आचार्य "आतोऽनुपसर्गे कः" (३ । २ । ३) इस सूत्र में प्रत्यय को इत्संज्ञक ककार-सहित पढ़ते हैं। यह क्यों कर ज्ञापक हुआ? कित्करण में यही तो प्रयोजन है कि कित्प्रत्यय परे होने पर (धातु के) 'आ' का लोप हो जाय। यदि आकार के भीतर वर्तमान 'अ' का (अतो लोपः से) लोप हो जाय तो इस सूत्र में कित्करण व्यर्थ हो जाय। आ (=अ + अ) के परले 'अ' का लोप होने पर प्रत्यय के 'अ' और प्रकृति के अवशिष्ट 'अ' के स्थान में (अतो गुणे ६ । १ । ९७ से) पररूप एकादेश होने पर इष्ट रूप गोदः, कम्बलदः सिद्ध हो जायगा। पर आचार्य जानते हैं आकार के अवयव-भूत 'अ' का लोप न होगा। अतः ककार अनुबन्ध लगाते हैं। पर यह तो ज्ञापक नहीं बन सकता। यहाँ का 'क' प्रत्यय उत्तर सूत्रों में अनुवृत्ति के लिये रहेगा। जैसे 'तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः (३।२।५)' इस सूत्र में। अच्छा तो जो गापोष्टक् (३।२।८) में जो ककार अनुबन्ध लगाया है जिस का दूसरा प्रयोजन ही नहीं, वह ज्ञापक रहेगा।

चाहिये—'अपाचितराम्' में 'चिणो लुक्' (६।४।१०४) इस शास्त्र से 'त' का लुक् होनेपर 'तराम्' शब्द का भी जब इसी शास्त्र से लुक् प्राप्त हुआ वो इसी शास्त्र से किए हुए 'त'—लुक् को असिद्धवत् मानकर व्यवधान होने से 'तराम्' शब्द के लुक् को रोका जाता है, इसी प्रकार प्रकृत में अतो लोपः शास्त्र से किये गये परले 'अ' के लोप को असिद्धवत् मानकर इसी शास्त्र से प्राप्त पूर्व 'अ' के लोप को रोका जाता है।

१. सति प्रयोजने न ज्ञापकं भवति, प्रयोजन हो तो ज्ञापक नहीं होता। यहाँ तो कित् करण प्रयोजनवान् है। यदि प्रत्यय कित् न हो (जो यहाँ है) तो आकार के उत्तरभाग अकार का अतो लोपः से लोप होने पर धातु के अवशिष्ट 'अ' और प्रत्यय के 'अ' का पररूप एकादेश हो जाने पर और इस को धातु के प्रति अन्तवद्भाव होने से और उसे 'सुपि च' से दीर्घ होने पर भी एकदेश विकृतन्याय से धात्वन्तावयव ही रहने से 'छन्दोगाय' यहाँ आतो धातोः (६।४।१४०) से आ का लोप होने लगेगा।

एकवर्णवच्च ।

एकवर्णवच्च दीर्घो भवतीति वक्तव्यम् । किं प्रयोजनम् । वाचा तरतीति द्व्यज्लक्षणष्ठन्मा भूदिति । इह च वाचो निमित्तम्, तस्य निमित्तं संयोगोत्पातौ इत्यनुवर्तमाने गोद्व्यचः इति द्व्यज्लक्षणो यन्मा भूदिति । अत्रापि गोनौग्रहणं ज्ञापकम्—दीर्घाद् द्व्यज्लक्षणो विधिर्न भवतीति । अयं तु सर्वेषामेव परिहारः—

नाऽव्यपवृक्तस्यावयवे तद्विधिर्यथा द्रव्येषु ।

नाऽव्यपवृक्तस्याऽवयवाश्रयो विधिर्भवति यथा द्रव्येषु । तद्यथा द्रव्येषु सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति इति न सप्तदशारत्निमात्रं काष्ठमग्नावभ्याधी-

---

(वा०) एक वर्ण की तरह ।

दीर्घ एक वर्ण=एकाच् होता है ऐसा कहना चाहिये । क्या प्रयोजन है ? वाचा तरति इस विग्रह को आश्रितकर वाच् से (नौद्व्यचष्ठन् ४ । ४ । ७ से) द्व्यच्कता (दो अचों) को मान कर कहीं ठन् प्रत्यय न हो जाय । और वाचो निमित्तं संयोग उत्पातो वा इस विग्रह को आश्रित कर के गोद्व्यचः (५।१।३९) इस सूत्र से वाच् में द्व्यच्कता को मान कर कहीं यत् न हो जाय । नहीं ऐसा नहीं होगा । यहाँ भी गो और नौ का इन दोनों सूत्रों में द्व्यच् से जुदा ग्रहण होने से ज्ञापित होता है दीर्घ से द्व्यज्-निमित्तक विधि नहीं होती । पर वक्ष्यमाण उत्तर सभी दोषों का एक ही परिहार है—

(वा०) अभिन्नतया भासमान वर्ण समुदाय के अपृथग-भूत (अस्वतन्त्र) अवयव को तत्सदृश, स्वतन्त्र, भिन्न वर्ण के तुल्य विधि नहीं होती जैसे द्रव्यों में । जैसे (वेद में कहा है) सप्तदश सामिधेन्यो भवन्ति अर्थात् समिदाधान के सत्तरह ऋग्मन्त्रों से सत्तरह (एक-एक हाथ लम्बी) समिधा रखी जाती हैं, पर इस वचन के आधार पर सत्तरह हाथ लम्बी एक ही लकड़ी तो अग्नि में नहीं रखी जाती (यद्यपि वहाँ भी एक-एक हाथ लम्बे टुकड़े समुदाय-घटकतया विद्यमान हैं, पर वे अभिन्न-बुद्धि-गम्य समुदाय के अभिन्न अस्वतन्त्र अवयव हैं, सत्तरह हाथ लम्बे उस एक काष्ठ में सत्तरह काष्ठ हैं

यह कोई दोष नहीं । सन्निपात परिभाषा से यहाँ लोप नहीं होगा । अदन्त अङ्ग अर्थात 'अ' को आश्रित कर के जो ङेर्यः से 'य' हुआ है वह 'अ' के लोप का निमित्त नहीं बनेगा ।

१. व्यपवृक्तं व्यपवर्गो भेदः । अविद्यमानं व्यपवृक्तमस्येत्यव्यपवृक्तम्, तस्य अभिन्नबुद्धिविषयसमुदायस्य । अव्यपवृक्तस्य और अवयवस्य—ये दोनों व्यधिकरण षष्ठियाँ हैं, समानाधिकरण नहीं, 'अव्यपवृक्त के अवयव का' ऐसा अर्थ है, न कि 'अव्यपवृक्त जो अवयव उस का' ऐसा ।

यते। विषम उपन्यासः। प्रत्यृचं चैव हि तत्कर्म चोद्यते। असम्भवश्चाग्नौ वेद्यां च। यथा तर्हि सप्तदश प्रादेशमात्रीराश्वत्थीः समिधो अभ्यादधीत इति न सप्तदशप्रादेशमात्रं काष्ठमग्नावभ्याधीयते। अत्रापि प्रतिप्रणवं चैतत्कर्म चोद्यते। तुल्यश्चासंभवोऽग्नौ वेद्यां च। यथा तर्हि तैलं न विक्रेतव्यम्, मांसं न विक्रेतव्यम् इति व्यपवृक्तं च न विक्रीयते, अव्यपवृक्तं—गावः सर्षपाश्च विक्रीयन्ते। तथा लोम नखं स्पृष्ट्वा शौचं कर्तव्यम् इति व्यपवृक्तं स्पृष्ट्वा नियोगतः कर्तव्यम्। अव्यपवृक्ते कामचारः। यत्र तर्हि व्यपवर्गोऽस्ति। क्व च व्यपवर्गोऽस्ति। सन्ध्यक्षरेषु।

सन्ध्यक्षरेषु विवृतत्वात्।

यदत्राऽवर्णं विवृततरं तदन्यस्मादवर्णाद्। ये अपीवर्णोवर्णे विवृततरे

ऐसी बुद्धि[1] नहीं होती, अतः तदाश्रित कार्य नहीं होता)। यह दृष्टान्त ठीक नहीं। एक एक ऋचा को उच्चारण कर एक-एक समिधा को रखने का विधान है और अग्नि व वेदी में सत्तरह हाथ लम्बा काष्ठ रखा भी नहीं जा सकता। (अच्छा तो दूसरा दृष्टान्त लीजिये) जैसे सत्तरह एक बालिश्त लम्बी अश्वत्थ (पीपल) की समिधाओं को अग्नि में धरे—इस विधान के बलपर सत्तरह बालिश्त लम्बा एक ही काष्ठ अग्नि में नहीं धरा जाता। (यहाँ भी दृष्टान्तविषमता है) यहाँ भी प्रति ओंकार उच्चारण के साथ एक-एक काष्ठ धरने की विधि है। और (यद्यपि बालिश्त अल्प-प्रमाण है, हाथ का आधा है तो भी) यहाँ भी १७ बालिश्त लम्बे एक ही काष्ठ के अग्नि व वेदी में आधान का पहले जैसा असम्भव है। अच्छा तो यह दृष्टान्त लीजिये—(स्मृतिकार का वचन है) तेल नहीं बेचना चाहिये, मांस नहीं बेचना चाहिये, पर पृथग्भूत तो बेचा जाता है, और अपृथग्-भूत जैसे गौ और तिल नहीं बेचे जाते। इसी प्रकार (स्मृति है—) लोमों को और नखों को छूकर स्नान करे। यहाँ जुदा हुए-हुए लोमों और नखों को छूकर अवश्य स्नान करना होगा, परन्तु शरीरस्थ लोम नखों को छूकर इच्छा हो स्नान करे, अनिच्छा हो, न करे। अच्छा तो जिस समुदाय में पृथक्ता भास रही हो (वहाँ अवयवाश्रित कार्य क्यों न हो?)। कहाँ पृथक्ता भासती है? सन्ध्यक्षरों में।

(वा०) सन्ध्यक्षरों में विवृत होने से (अवयवाश्रित कार्य नहीं होगा)। इन सन्ध्यक्षरों में जो अवर्ण (अवयव) है वह लोक में प्रयुक्त स्वतन्त्र 'अ' की अपेक्षा विवृततर है (अतः यह उसका सवर्ण नहीं) और जो इ वर्ण और उ वर्ण हैं वे भी दूसरे इ वर्ण उवर्ण से विवृततर हैं (अतः यहाँ के इवर्ण उवर्ण स्वतन्त्र इवर्ण

---

१. और संभवमात्र को लेकर कार्य नहीं होते, कार्य-निमित्तक बुद्धि हो तभी होते हैं।

ते अन्याभ्यामिवर्णोवर्णाभ्याम्। अथवा पुनर्न गृह्यन्ते।

अग्रहणं चेन्नुड्विधिलादेशविनामेषु ऋकारग्रहणम्।

अग्रहणं चेन्नुड्विधिलादेशविनामेषु ऋकारग्रहणं कर्तव्यम्। 'तस्मान्नुड् द्विहलः (७।४।७१)' ऋकारे चेति वक्तव्यम्। इहापि यथा स्यात्—आनृधतुः, आनृधुरिति। यस्य पुनर्गृह्यन्ते द्विहल इत्येव तस्य सिद्धम्। यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येष न दोषः। द्विहल्ग्रहणं न करिष्यते तस्मान्नुड् भवतीत्येव। यदि न क्रियते आटतुः, आटुरित्यत्रापि प्राप्नोति। अश्नोतिग्रहणं नियमार्थं भविष्यति, अश्नोतेरेवाऽवर्णोपधस्य, नान्यस्याऽवर्णोपधस्येति। (नुड्विधिः)

उवर्ण के सवर्ण नहीं)। अथवा इन अवयवों का स्वतन्त्र वर्णों की तरह ग्रहण नहीं होता—यह पक्ष रहे।

(वा०) यदि ग्रहण नहीं होता तो नुट् विधि, लादेश, विनाम (णत्व) की कर्तव्यता में ऋकार का ग्रहण करना होगा।

तस्मान्नुड् द्विहलः इस सूत्र में ऋकारे च (ऋकार परे होनेपर भी) ऐसा पढ़ना होगा ताकि आनृधतुः (ऋध् का प्र० पु० द्विचन में लिट्), आनृधुः (बहु० में लिट्) यहां भी नुट् का आगम हो जाय। जिसके मत में वर्णों के एकदेश का स्वतन्त्र वर्णों के रूप में ग्रहण होता है, उसके लिये द्विहलः कहने से ही नुट् आगम हो जायगा। जिसके मत में ग्रहण नहीं होता उसमें भी यह (ऋकारग्रहणरूप) दोष नहीं आता। वह द्विहल् का ग्रहण न करेगा तस्मान्नुड् (भवति), इतना ही सूत्र न्यास करेगा। यदि ऐसा किया जायगा, आटतुः, आटुः—यहाँ भी नुट् की प्राप्ति होगी। (नहीं होगी) अश्नोतेश्च (७।४।७२) सूत्र में अशूङ् धातु का नुट् विधान के लिये जो ग्रहण किया है वह नियमार्थ होगा, अर्थात् अवर्ण उपधावाले धातु को यदि नुट् हो तो अशूङ् को ही हो, अन्य को न हो। (नुड्विधि के विषय में कह दिया)

---

१. परमार्थतः पृथग् उपलभ्यमान स्वतन्त्र वर्णों की समुदाय में अवयव-रूप से अन्तः सत्ता नहीं है, केवल वर्णान्तर सादृश्य से प्रत्यभिज्ञा होती है। समुदाय वर्णों में समुदाय बुद्धि भी तात्त्विकी नहीं है, यहाँ भ्रान्तिवश अवयवाभास होने से वैसी बुद्धि कल्पित होती है।

पदे न वर्णा विद्यन्ते वर्णेष्ववयवा न च।
वाक्यात्पदानामत्यन्तं प्रविवेको न कश्चन॥

इस वाक्यपदीय-वचन के अनुसार स्फोट को सिद्धान्त माननेवाले वैयाकरणों के लिये इस पूर्व पक्ष का कौनसा अवसर है।

लादेशे च ऋकारग्रहणं कर्तव्यम् । कृपो रो लः ऋकारस्य चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—क्लृप्तः क्लृप्तवानिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते र इत्येव तस्य सिद्धम् । यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येष न दोषः । ऋकारोऽप्यत्र निर्दिश्यते । कथम् । अविभक्तिको निर्देशः—कृप, उः, रः, लः कृपो रो ल इति । अथवा उभयतः स्फोटमात्रं निर्दिश्यते रश्रुतेर्लश्रुतिर्भवतीति । (लादेशः)

विनामे ऋकारग्रहणं कर्तव्यम् । रषाभ्यां नो णः समानपदे ऋकाराच्चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—मातॄणां पितॄणामिति । यस्य पुनर्गृह्यन्ते रषाभ्यामित्येव तस्य सिद्धम् । न सिध्यति । यत्तद्रेफात्परं भक्तेस्तेन व्यवहितत्वान्न प्राप्नोति । मा भूदेवम् । अड्व्यवाये इत्येव सिद्धम् । न सिध्यति । वर्णैकदेशाः के वर्णग्रहणेन गृह्यन्ते ये व्यपवृक्ता अपि वर्णा

लादेश विधि में भी ऋकार का ग्रहण करना होगा । कृपो रो लः (८।२।१८) यहाँ ऋकारस्य च (ऋकार को लादेश हो) ऐसा पढ़ना चाहिये, ताकि क्लृप्तः क्लृप्तवान्—यहाँ भी लत्व हो जाय । जिस का यह पक्ष है वर्णों के एकदेशों का स्वतन्त्र वर्णों के रूप में ग्रहण होता है उस के लिये तो सूत्र में पढ़े हुए 'रः' से ही कार्यसिद्धि हो जायगी । (ऋकारस्थ रेफ भाग को लत्व करने से इष्ट सिद्धि हो जायगी) । जिसका पक्ष है ग्रहण नहीं होता, उस के विषय में भी ऋकारग्रहण गौरव रूप दोष नहीं आता । (क्योंकि) यहाँ ऋकार का निर्देश पहले से ही किया हुआ है । वह कैसे ? कृपो रो लः सूत्र में 'कृप' यह अविभक्तिक (विभक्ति-रहित) निर्देश है, ऋ का षष्ठयन्त रूप 'उः' है, कृप के पकारोत्तरवर्ती अकार से मिल कर 'ओ' गुण हुआ है । अथवा ऐसा समझिये कि यहाँ (कृपो रो लः) सूत्र में स्थानी र और आदेश ल में जातिस्फोट र, ल का निर्देश है । (यह लादेश विषय में कह दिया)

विनाम (णत्व विधि) में ऋकार का ग्रहण करना होगा । जहाँ णत्व विधायक शास्त्र रषाभ्यां नो णः समानपदे पढ़ा है वहीं उसके साथ ऋकाराच्च (ऋकार से परे भी) ऐसा कहना चाहिये । ताकि मातॄणाम् पितॄणाम्—यहाँ भी णत्व हो सके । जिस का ग्रहण पक्ष है उसके मत में तो रषाभ्याम् इतने से ही कार्य-सिद्धि हो जायगी । नहीं होगी । जो रेफ रूप भाग से परे अज्-भक्ति है उससे व्यवधान के कारण रषाभ्याम्—इस सूत्र से प्राप्ति ही नहीं । मत हो । अट्कुप्वाङ् सूत्र से अट्रूप व्यवधान होने पर भी णत्व होता है, (सो णत्व निर्बाध है) । णत्व (इस सूत्र से भी) नहीं हो सकेगा ।

---

१. कृपः उः रेफस्य लत्वम्—यह एक वाक्य, कृपो रेफस्य लत्वम्—यह दूसरा । इस प्रकार वाक्यभेद हो जाता है । पर यह न्याय है कि एकवाक्यता के संभव होने पर वाक्य-भेद का आश्रयण युक्त नहीं, अतः भाष्यकार पक्षान्तर का उपन्यास करते हैं ।

भवन्ति। यच्चापि रेफात्परं भक्तेः, न तत्कचिदपि व्यपवृक्तं दृश्यते। एवं तर्हि योगविभागः करिष्यते, रषाभ्यां नो णः समानपदे, ततः 'व्यवाये', व्यवाये च रषाभ्यां नो णो भवतीति। ततः 'अट्कुप्वाङ्नुम्भिः' इति। इदमिदानीं किमर्थम्। नियमार्थम्। एतैरेवाक्षरसमाम्नायिकैर्व्यवाये, नान्यैः, इति। यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येष न दोषः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति—भवति ऋकारान्नो णत्वमिति, यदयं क्षुभ्नादिषु नृनमनशब्दं पठति। नैतदस्ति ज्ञापकम्। वृद्ध्यर्थमेतत्स्यात्—नार्नमनिः। यत्तर्हि तृप्नोतिशब्दं पठति। यच्चापि नृनमनशब्दं पठति। ननु चोक्तं वृद्ध्यर्थमेतत्स्यात्। बहिरङ्गा वृद्धिरन्तरङ्गं णत्वम्। असिद्धं बहिरङ्गमन्तरङ्गे। अथवा उपरिष्टाद्योगविभागः करिष्यते।

वर्णों के एकदेश (अवयव) वे ही तो वर्णरूप से गृहीत होते हैं जिनके सदृश स्वतन्त्र वर्ण हैं। रेफ रूप भाग से परे जो अच् भक्ति मानी जाती है वह (तत्सदृश वर्ण) कहीं भी दीखता नहीं। अच्छा तो हम योगविभाग करेंगे। रषाभ्याम्—इस सूत्र को पढ़कर 'व्यवाये' यह वचन पढ़ेंगे, अर्थ होगा र् ष् से परे न् को ण् होता है और (किसी वर्णके) व्यवधायक होने पर (भी) यह णत्व हो जाता है। इसके अनन्तर 'अट् कुप्वाङ्नुम्भिः' (अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् नुम् इनके द्वारा व्यवधान होने पर) ऐसा पढ़ेंगे। यह किस लिये? नियम करने के लिये[1]। अक्षर-समाम्नाय में उपदिष्ट वर्णों द्वारा यदि व्यवधान हो तो इन्हीं (अट्, कवर्ग, पवर्ग, आङ् और नुम्) द्वारा व्यवधान होने पर णत्व हो, अन्य द्वारा व्यवधान होने पर न हो। जिसका अग्रहण पक्ष है उसे भी यह ऋकार ग्रहण-रूप दोष नहीं आता। आचार्य की प्रवृत्ति बतलाती है ऋकार से परे न् को ण् होता है जो वे 'क्षुभ्नाति गण' में नृनमन शब्द पढ़ते हैं (प्राप्त था तभी तो वारण करने के लिये 'क्षुभ्नाति गण' में पाठ कर दिया)। नहीं यह कोई ज्ञापक नहीं। इस (नृनमन) का पाठ तो इसलिये किया गया हो कि जब अपत्यार्थ इञ् प्रत्यय आनेपर आदिवृद्धि होकर पूर्व पद में रकार मिल जाय तब उससे परे न् को ण् न हो। 'नार्नमनिः' ऐसा रूप हो। अच्छा जो इसी गण में तृप्नोति शब्द पढ़ा है, यह ज्ञापक रहेगा। और नृनमन शब्द का पाठ भी ज्ञापक होगा। अभी अभी कहा था कि उसका पाठ वृद्धि होकर 'नार्नमनिः' रूप में रकारनिमित्तक णत्व को रोकने के लिये हो सकता है। नहीं। (बहिर्भूत निमित्त इञ् प्रत्यय होने से) वृद्धि बहिरङ्ग है और (अन्तर्भूत निमित्त होने से) णत्व अन्तरङ्ग है। अन्तरङ्ग शास्त्र की दृष्टि में बहिरङ्ग शास्त्र असिद्ध होता है (सो ऋकार निमित्तक णत्व को रोकने के लिये ही नृनमन का पाठ है)। अथवा अगले सूत्र को

१. यह नियम अक्षर-समाम्नाय में पढ़े हुए वर्णों द्वारा व्यवधान का संकोच करता है। रेफ रूप भाग से परे जो अजूभक्ति मानी जाती है उसका नहीं, सो वहां 'व्यवाये' इस योगविभाग से निर्बाध णत्व होगा।

ऋतः नो णो भवति। ततः 'छन्दस्यवग्रहात्' ऋत इत्येव।

प्लुतावैच इदुतौ॥

एतच्च वक्तव्यम्। यस्य पुनर्गृह्यन्ते गुरोष्टेरित्येव प्लुत्या तस्य सिद्धम्। यस्यापि न गृह्यन्ते तस्याप्येष न दोषः। क्रियत एतन्न्यास एव।

तुल्यरूपे[1] संयोगे द्विव्यञ्जनविधिः॥

तुल्यरूपे संयोगे द्विव्यञ्जनाश्रयो विधिर्न सिध्यति कु३क्कुटः, पि३प्पली, पि३त्तमिति। यस्य पुनर्गृह्यन्ते तस्य द्वौ ककारौ, द्वौ पकारौ, द्वौ तकारौ। यस्यापि न गृह्यन्ते तस्यापि द्वौ ककारौ, द्वौ पकारौ, द्वौ तकारौ। कथम्।

विभाग करके पढ़ेंगे—ऋतः (सूत्र के अविभक्तिक ऋत् की पञ्चमी। और अर्थ होगा ऋ से परे न् को ण् होता है। तब छन्दस्यवग्रहात् ऐसा पढ़ेंगे जिसमें पूर्व सूत्र से ऋतः इसकी अनुवृत्ति होगी।

(ग्रहणवादी का कथन)—प्लुतावैच इदुतौ (८।२।१०६) अर्थात् ऐच् के अवयव इ, उ को प्लुत होता है—यह तुम्हें कहना पड़ेगा। जिस के मत में अवयवों का स्वतन्त्र वर्णों की तरह ग्रहण होता है, उस के मत में गुरोरनृतः इत्यादि सूत्र से ही प्लुत हो जायगा। (उत्तर) जिस के मत में ग्रहण नहीं होता, उस में भी कोई दोष नहीं (गौरव नहीं आता)। सूत्रकार ने पहले ही इस वचन को सूत्ररूप में पढ़ रखा है (यहाँ कोई अपूर्व वचन नहीं पढ़ना है)।

(वा०) (ग्रहणवादी फिर दोष देता है)—तुल्यरूपवाले अवयव जिस वर्ण में हैं और जो संयोगसंज्ञा के योग्य (एक) वर्ण है वहाँ तुम्हें (अग्रहणवादी को) हल्-द्वय-आश्रित संयोगसंज्ञा अप्राप्त होने से कहनी चाहिये। जिस से संयोग के परे होने पर पूर्व की गुरु संज्ञा होने से 'गुरोरनृतः—' से कु३क्कुट, पि३प्पली, पि३त्त इत्यादि में प्लुत हो सके। हमारे मत में अवयव-भूत ककारादि को लेकर दो ककार, दो पकार, दो तकार हैं)। (उत्तर—) जिस के मत में ग्रहण नहीं होता उस के मत में भी दो ही ककार, दो ही पकार और दो ही तकार हैं। तुम पूछो कैसे? (तुम्हारा यहाँ क्क, प्प, त्त में एक वर्ण मानना भ्रान्ति है) कारण कि मात्रा काल संयोग का बोध हो रहा है, पर मात्रा काल वाला व्यञ्जन तो है नहीं। जब आचार्य ने उसका प्रत्याहारसूत्रों में उपदेश नहीं किया तो उस की सत्ता कैसे जानी जाय और जो

---

१. तुल्यरूपावयवः संयोगस्तुल्यरूपः। मध्यमपदलोपी समासः। तुल्यरूप संयोग की पूर्व पक्ष में एकवर्णता है, सिद्धान्त में वर्णद्वयरूपता। शीघ्रोच्चारण-वशात् एकत्व ज्ञान तो भ्रान्त है।

मात्राकालोऽत्र गम्यते । न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति । अनुपदिष्टं सत्कथं शक्यं विज्ञातुम् । असच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम् । यद्यपि तावदत्रैतच्छक्यते वक्तुं यत्रैतन्नास्ति–अण् सवर्णान्गृह्णातीति । इह तु कथम्–सय्ँयन्ता, सव्ँवत्सरः, यल्ँलोकम् इति । यत्रैतदस्त्यण् सवर्णान् गृह्णातीति । अत्रापि मात्राकालो गृह्यते । न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति । अनुपदिष्टं सत्कथं शक्यं विज्ञातुम् । असच्च कथं शक्यं प्रतिपत्तुम् ।

हयवरट् ॥ ५ ॥

सर्वे वर्णाः सकृदुपदिष्टाः, अयं हकारो द्विरुपदिश्यते—पूर्वश्चैव परश्च । यदि पुनः पूर्व एवोपदिश्येत, पर एव वा । कश्चात्र विशेषः ।

हकारस्य परोपदेशेऽड्ग्रहणेषु हग्रहणम् ॥

हकारस्य परोपदेशे ऽड्ग्रहणेषु हग्रहणं कर्तव्यम् आतोटि नित्यम्, शश्छोटि,

---

अविद्यमान है उसे कैसे स्वीकार किया जाय । यहाँ पूर्वपक्षी (ग्रहणवादी) कहता है कि जहाँ अण्भिन्न वर्णों क्क, प्प, त्त आदि में अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६९) ग्रहणकशास्त्र नहीं लगता वहाँ तुम भले ही उपदेशाभाव और असत्स्वरूप अग्रहण में हेतु दे सको, पर जहाँ सय्ँयन्ता, सव्ँवत्सरः, यल्ँलोकम् आदि में अण् से गृहीत होने से साक्षात् उपदेश न होने पर भी उपदिष्टत्व और सत्त्व है ही । वहाँ अण् रूप य्, व्,ल् अपने सवर्णों का ग्राहक होने से दो य्य, दो व्व, दो ल्ल को एक वर्ण हल् के रूप में ग्रहण (बोध) करायँगे, सो अग्रहण-पक्ष में दो हल् न होने से संयोग संज्ञा न बनेगी । (उत्तर–) यकारादि के अण् होनेपर भी द्वियकारादि को वह ग्रहण नहीं करा सकता, जो है उसी का ग्रहण करा सकता है । य्य आदि मात्राकालिक हैं, व्यञ्जन (हल्) तो मात्राकालिक होता नहीं (वह तो अर्धमात्रिक होता है), उस का आचार्य ने उपदेश नहीं किया, उपदेश के बिना उस की सत्ता कैसे जानी जाय । जो अविद्यमान है उसे कैसे स्वीकार किया जाय ?

हयवरट् ॥५॥

सभी वर्णों का (वर्णसमाम्नाय में) एकही बार उच्चारण किया गया है, पर हकार ही का दो बार उच्चारण किया गया है, पहले भी और पीछे भी । यदि पहले ही उच्चारण किया जाय अथवा पीछे ही, तो इस में क्या भेद पड़ता है ?

(वा०) हकार के केवल पर उपदेश होने पर जिन सूत्रों में अट् ग्रहण किया है उनमें हकार भी ग्रहण करना चाहिये, (जैसे) आतोऽटि नित्यम्, शश्छोऽटि, दीर्घादटि समानपादे इन सूत्रों में हकार परे होने पर भी (इन सूत्रों से विहित कार्य)

---

१. सानुनासिक और निरनुनासिक यहाँ दो वर्ण हैं ।

दीर्घादटि समानपादे हकारे चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—महाँ हि सः ।

उत्त्वे च ॥

उत्वे च हकारग्रहणं कर्तव्यम् अतो रोरप्लुतादप्लुते हशि च हकारे चेति वक्तव्यम् । इहापि यथा स्यात्—पुरुषो हसति ब्राह्मणो हसतीति । अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः ।

पूर्वोपदेशे किंत्वक्सेड्विधयो[१] झल्ग्रहणानि च ॥

यदि पूर्वोपदेशः कित्त्वं विधेयम्—स्निहित्वा, स्नेहित्वा, सिस्निहिषति, सिस्नेहिषति रलो व्युपधाद्धलादेः इति कित्त्वं न प्राप्नोति । क्सविधिः—क्सश्च विधेयः—अधुक्षत्, अलिक्षत् शल इगुपधादनिटः क्स इति क्सो न प्राप्नोति । इड्विधिः—इट् च विधेयः—रुदिहि वलादिलक्षण इण्न प्राप्नोति । झल्ग्रहणानि च । किम् । अहकाराणि स्युः । तत्र को दोषः । झलो झलि इतीह न स्यात्—अदाग्धाम् अदाग्धम् । तस्मात्पूर्वश्चैवोपदेष्टव्यः परश्च । यदि[२] च किंचिदन्यत्राप्युपदेशे प्रयोजनमस्ति तत्राप्युपदेशः कर्तव्यः ।

होते हैं ऐसा कहना चाहिये ताकि महाँ हि सः—यहाँ भी रुत्व और अनुनासिक होजाय ।

(वा०) उत्व की कर्तव्यता में भी हकार ग्रहण करना चाहिये अतो रोरप्लुताद-प्लुते की अनुवृत्ति करते हुए 'हशि च' सूत्र में हकार परे होने पर भी उत्व हो ऐसा कहना चाहिये ताकि पुरुषो हसति, ब्राह्मणो हसति यहाँ भी उत्व हो जाय । अच्छा तो पूर्व ही उपदेश हो ।

(वा०) यदि पूर्व ही उपदेश हो तो कित्त्व विधि,क्स विधि तथा इट् विधियाँ नहीं सिद्ध होतीं और जहाँ झल् ग्रहण किया गया है वह हकार-रहित होगा ।

यदि पूर्वोपदेश ही किया जाय तो कित्त्व का विधान करना पड़ेगा । स्निहित्वा, सिस्निहिषति, सिस्नेहिषति में 'रलो व्युपधाद्धलादेः—' इस सूत्र से हकार के रल् प्रत्याहारान्तर्गत होने से सेट् क्त्वा और इडादि सन् विकल्प से कित् नहीं हो सकते । क्सविधिः—क्स का भी विधान करना पड़ेगा । अधुक्षत्, अलिक्षत् (दुह् और लिह् का लुङ्) में शल इगुपधादनिटः क्सः इस सूत्र से क्स की प्राप्ति नहीं होती । इड्विधि—इट् का भी विधान करना होगा (क्यों कि अब) वलादि प्रत्ययनिमित्तक इट् की प्राप्ति नहीं । झल्ग्रहण भी । क्या कहना चाहते हो ? यही कि झल् प्रत्याहार हकार रहित हो जायेंगे ।

---

१. यहाँ विधि शब्द में कर्मणि 'कि' प्रत्यय समझना चाहिये । कित्त्व क्स इट्—ये विधेय हैं

२. वर्णों का उपदेश किसी शास्त्रीय प्रयोजन के लिये किया जाता है (केवल) स्वरूप बोधन के लिये नहीं ।

इदं विचार्यते—अयं रेफो यकारवकाराभ्यां पूर्व एवोपदिश्यते हरयवट् इति, पर एव वा यथान्यासम् इति। कश्चात्र विशेषः।

रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णप्रतिषेधः ॥

रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिकद्विर्वचनपरसवर्णानां प्रतिषेधो वक्तव्यः। अनुनासिकस्य—स्वर्नयति, प्रातर्नयति यरोनुनासिकेऽनुनासिको वा (८।४।४५) इत्यनुनासिकः प्राप्नोति। द्विर्वचनस्य—मद्रह्लदः, भद्रह्लदः यरः (८।४।४६) इति द्विर्वचनं प्राप्नोति। परसवर्णस्य—कुण्डं रथेन, वनं रथेन अनुस्वारस्य ययि (८।४।५८) इति परसवर्णः प्राप्नोति। अस्तु तर्हि पूर्वोपदेशः।

पूर्वोपदेशे किक्त्वप्रतिषेधो व्यलोपवचनं च ॥

यदि पूर्वोपदेशः कित्त्वं प्रतिषेध्यम्। देवित्वा दिदेविषति रलो व्युपधादिति कित्त्वं प्राप्नोति। नैष दोषः। नैवं विज्ञायते रलः व्युपधादिति। किं तर्हि। रलः

अब इस बात पर विचार किया जाता है रेफ का यकार वकार से पूर्व ही उच्चारण करके (सूत्र को) हरयवट् इस रूप से पढ़ा जाय अथवा जैसे आचार्य ने इसे रखा है (हयवरट् के रूप में)। तो इसमें क्या विशेष है?

(वा०) रेफ का पर उपदेश करने पर अनुनासिक, द्विर्वचन और परसवर्ण का निषेध कहना होगा। अनुनासिक के निषेध का विषय स्वर्नयति, प्रातर्नयति, यहाँ यरोनुनासिकेऽनुनासिको वा इस सूत्र से (रेफ को) यर् प्रत्याहारान्तर्गत होने से अनुनासिक प्राप्त होता है। द्विर्वचन के निषेध का विषय—मद्रह्लदः, भद्रह्लदः यहाँ 'अचो रहाभ्यां द्वे' सूत्र से रेफ के यर्प्रत्याहारान्तर्गत होने से द्वित्व प्राप्त होता है। परसवर्ण के निषेध का विषय—कुण्डं रथेन, वनं रथेन यहाँ अनुस्वारस्य ययि परसवर्णः इस सूत्र से रेफ के यय् प्रत्याहारान्तर्गत होने से अनुस्वार को परसवर्ण प्राप्त होता है। अच्छा तो (रेफ का) पूर्व उपदेश ही हो।

(वा०) पूर्व उपदेश होने पर कित्त्व का प्रतिषेध करना होगा और वकार यकार का लोप भी कहना होगा।

यदि (रेफ का) पूर्व उपदेश किया जाय तो कित्त्व का प्रतिषेध करना होगा देवित्वा दिदेविषति। यहाँ व् के रल् प्रत्याहारान्तर्गत होने से रलो व्युपधाद्धलादेः संश्च (१।२।२६) इस सूत्र से सेट् क्त्वा और सेट् सन्प्रत्यय को विकल्प से कित्त्व प्राप्त होता है। यह कोई दोष नहीं। हम सूत्र का पदच्छेद रलः व्युपधात् ऐसा नहीं समझते किन्तु रलः अव् व्युपधात् ऐसा समझते हैं। तो अव् व्युपधात् इसका क्या अर्थ है? जो व्युपध हो पर वकारान्त न हो उससे। व् य् का लोप भी—गौधेरः, पचेरन्, यजेरन्, जीव्

अब् व्युपधादिति । किमिदम् अब् व्युपधादिति। अवकारान्ताद् व्युपधाद् अव्-व्युपधादिति । व्यलोपवचनं च—व्योश्च लोपो वक्तव्यः। गौधेरः, पचेरन्, यजेरन्, जीवे रदानुः—जीरदानुः । वलीति लोपो न प्राप्नोति। नैष दोषः। रेफोऽप्यत्र निर्दिश्यते लोपो व्योर्‌ वलि इति, रेफे च वलि चेति ।

अथवा पुनरस्तु परोपदेशः। ननु चोक्तं रेफस्य परोपदेशेऽनुनासिक-द्विर्वचनपरसवर्णप्रतिषेध इति । अनुनासिकपरसवर्णयोस्तावत्प्रतिषेधो न वक्तव्यः, रेफोष्मणां सवर्णा न सन्ति। द्विर्वचनेऽपि। नेमौ रहौ कार्यिणौ द्विर्वचनस्य। किं तर्हि। निमित्तमिमौ रहौ द्विर्वचनस्य। तद्यथा ब्राह्मणा भोज्यन्तां माठरकौण्डिन्यौ परिवेविषातामिति। नेदानीं तौ भुञ्जाते।

इदं विचार्यते—इमेऽयोगवाहा न क्वचिदुपदिश्यन्ते श्रूयन्ते च। तेषां

धातु से रदानु प्रत्यय करने पर—ऐसे स्थलों में कहना होगा, कारण कि अब रेफ वल्प्रत्याहारान्तर्गत न रहा, अतः लोपो व्योर्वलि (६।१।६६) इस सूत्र से लोप न हो सकेगा। यह कोई दोष नहीं। व्योर्वलि सूत्र में रेफ का भी निर्देश (उच्चारण) आचार्य ने किया है, लोपो व्योर्‌वलि ऐसा सूत्र न्यास अभिप्रेत है। (संहिता कार्य से रेफ का लोप हुआ है)। अर्थ हुआ वल् परे होने पर भी लोप हो और रेफ परे होने पर भी।

अथवा (सूत्रानुसार) परोपदेश ही रहे (क्या हानि है?)। अभी अभी कहा था, परोपदेश होने पर अनुनासिक, द्विर्वचन और परसवर्ण का प्रतिषेध करना होगा। अनुनासिक और परसवर्ण के निषेध करने को कोई आवश्यकता नहीं, कारण कि रेफ और ऊष्म वर्ण (श ष स ह) के सवर्ण नहीं होते। रहा द्विर्वचन का निषेध, सो भी न कहना होगा, कारण कि हकार यर् प्रत्याहार के अन्तर्गत न होने से द्वित्व-रूप कार्य का भागी ही नहीं, और रेफ यद्यपि यर् है तो भी द्वित्व विधि में निमित्त होने से कार्यी नहीं हो सकता। (इसमें लौकिक दृष्टान्त देते हैं) जैसे ब्राह्मणों को भोजन कराया जाय, माठर और कौण्डिन्य (मठर और कुण्डिन गोत्रज ब्राह्मण) भोजन परोसें। परोसते हुए वे स्वयम् भोजन नहीं करते।

अब इस बात पर विचार किया जाता है कि इन अयोगवाह नामक वर्णों का कहीं भी उपदेश नहीं किया, पर शास्त्र में और लोकव्यवहार में इनका श्रवण होता है। अतः शास्त्र-कार्य के लिये इनका उपदेश होना चाहिये। अयोगवाह नाम के कौन से

---

१. नेमौ रहौ कार्यिणौ—रेफ हकार का साक्षात् कार्य-विषयता-रूप से उपादान नहीं। किन्तर्हि निमित्तम्—यहाँ रेफ हकार—इन दोनों में निमित्तत्व समान है अतः एकवचन प्रयुक्त हुआ। यद्यपि लक्ष्यभेद से कार्यित्व और निमित्तत्व – दोनों का संभव है

कार्यार्थं उपदेशः कर्तव्यः । के पुनरयोगवाहाः । विसर्जनीयजिह्वामूलीयोपध्मानीयानुस्वारनासिक्ययमाः । कथं पुनरयोगवाहाः । यद्युक्ता वहन्ति अनुपदिष्टाश्च श्रूयन्ते । क्व पुनरेषामुपदेशः कर्तव्यः ।

अयोगवाहानामट्सु णत्वम् ॥

अयोगवाहानामट्सूपदेशः कर्तव्यः । किं प्रयोजनम् । णत्वम् उरः केण, उर ᳲकेण, उरः पेण, उर ᳲपेण । अड्व्यवाय इति णत्वं सिद्धं भवति ।

शर्षु जश्भावषत्वे ॥

शर्षूपदेशः कर्तव्यः । किं प्रयोजनम् । जश्भावषत्वे । अयमुब्जिरुपध्मानीयोपधः पठ्यते । तत्र जश्त्वे कृते उब्जिता, उब्जितुमित्येतद्रूपं यथा स्यात् । यद्युब्जिरुपध्मानीयोपधः[1] पठ्यते, उब्जिजिषतीत्युपध्मानीयादेरेव द्विर्वचनं

वर्ण हैं? (उत्तर)—विसर्ग, जिह्वामूलीय, उपध्मानीय, अनुस्वार, अनुनासिक और यम । इन्हें अयोगवाह क्यों कहते हैं ? इसलिये कि इनका योग=उपदेश (अक्षरसमाम्नाय में) किया नहीं, और इनका शास्त्र और लोक में वहन=व्यवहार होता है । तो इनका कहाँ उपदेश करना चाहिये ?

(वा०) अयोगवाहों का अट् प्रत्याहार में अन्तर्भाव करना चाहिये । इससे क्या सिद्ध होगा ? (उत्तर) णत्व । उरः केण, उर ᳲकेण, उरः पेण, उर ᳲपेण, यहाँ अट् कृत व्यवधान होने पर भी णत्व सिद्ध होता है ।

(वा०) शर् प्रत्याहार में अयोगवाहों का अन्तर्भाव करना चाहिये इससे क्या सिद्ध होगा ? जश् भाव और षत्व ।

उब्ज् धातु उपध्मानीयोपध (जिसमें उपध्मानीय उपधा है) पढ़ा है । शर् में पाठ होने से (शर् झल् के अन्तर्गत है) झलां जश् झशि (८।४।५३) इस सूत्र से उपध्मानीय को जश् होने पर उब्जिता, उब्जितुम् ऐसा रूप सिद्ध होगा । (शङ्का) यदि उब्ज् उपध्मानीयोपध पढ़ा है ऐसा स्वीकार करते हो तो 'अजादेर्द्वितीयस्य, (६।१।२) सूत्र से उपध्मानीय सहित द्वितीय एकाच् को द्वित्व प्राप्त होता

तो भी सामान्य जो कार्य प्राप्त है वह विशेषतया प्राप्त कार्य से बाधित हो जाता है । इसी लिये 'अचो रहाभ्यां द्वे' में जो यर् है वह रेफ-भिन्न है ऐसी व्यवस्था होने पर 'अनचि च' में भी अर्थाविकार से रेफ-भिन्न यर् की ही अनुवृत्ति होने से 'हर्यनुभवः' में 'अनचि च' से भी रेफ को द्वित्व न होगा ।

१. यदि द्विर्वचन की कर्तव्यता में जश्त्व असिद्ध है अथवा यदि 'पूर्वत्रासिद्धीयमद्विर्वचने' इस परिभाषा के अनुसार जश्त्व सिद्ध ही है दोनों अवस्थाओं में 'उब्जिब्जिषति' ऐसा अनिष्ट रूप प्रसक्त होता है ।

प्राप्नोति। दकारोपधे पुनर् 'न न्द्राः संयोगादयः' इति प्रतिषेधः सिद्धो भवति। यदि दकारोपधः पठ्यते, का रूपसिद्धिः उब्जिता उब्जितुमिति।

असिद्धे भ उद्जेः ॥

इदमस्ति—"स्तोः श्चुना श्चुः" इति, ततो वक्ष्यामि भ उद्जेः, उद्जेः श्चुना सन्निपाते भो भवतीति। तत्तर्हि वक्तव्यम्? न वक्तव्यम्। निपातनादेव सिद्धम्। किं निपातनम्। "भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः" इति। इहापि तर्हि प्राप्नोति—अभ्युद्गः समुद्गः इति। अकुत्वविषये तन्निपातनम्। अथवा नैतदुब्जे रूपम्। गमेरेतद्द्व्युपसर्गाड्डो विधीयते। अभ्युद्गतोऽभ्युद्गः, समुद्गतः समुद्ग इति। षत्वं च प्रयोजनम्। सर्पिःषु धनुःषु। शर्व्यवाये इति षत्वं सिद्धं भवतीति। 'नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि' इति विसर्जनीयग्रहणं न कर्तव्यं भवति। नुमश्चापि तर्हि ग्रहणं शक्यमकर्तुम्। कथं सर्पींषि धनूंषि।

है, इससे उब्जिजिषति यह इष्ट रूप सिद्ध न होगा, दकारोपध (उद्ज्) मानने पर तो, न न्द्राः संयोगादयः, (६।१।३) इस सूत्र से दकार के द्विर्वचन का निषेध हो जाने से द्वितीय एकाच् 'जिस्' को द्वित्व होगा। यदि दकारोपध (उद्ज्) पाठ है तो उब्जिता, उब्जितुम् इन रूपों की सिद्धि कैसे होगी?

असिद्धे भ उद्जेः ॥

असिद्ध काण्ड त्रिपादी में 'स्तोः श्चुना श्चुः' (८।४।४०) यह पढ़ा है, वहाँ इसके आगे 'भ उद्जेः' ऐसा पढ़ देंगे, अर्थ होगा—श्चु (शकार चवर्ग) के योग में 'उद्ज्' के सकार तवर्ग को भ हो (और वह अव्यवहितपूर्व 'द्' को ही होगा) तो क्या ऐसा अपूर्व वचन करना चाहिये? नहीं। निपातन से ही इष्ट सिद्धि हो जायगी। कौन सा निपातन? 'भुजन्युब्जौ पाण्युपतापयोः' (७।३।६१) (यहाँ 'न्युब्ज' में-द् के स्थान में 'भ्' निपातित है, और जश्त्व से उसे 'ब्' हुआ है)। यदि निपातन मानते हो तो (बाधकान्येव निपातनानि भवन्ति इस वचन के अनुसार) अभ्युद्गः समुद्गः यहाँ भी दकार का श्रवण न होकर ब् का ही श्रवण होना चाहिये। (उत्तर) यह विशिष्टविषयक निपातन है जहाँ "चजोः कु घिण्ण्यतोः" (७।३।५२) सूत्र से कुत्व प्राप्त हो और कुत्वाभाव निपातन किया हो वही इस 'भत्व' का विषय है। अथवा यूँ समझिये—ये दोनों रूप उब्ज् धातु के नहीं हैं। ये तो गम् धातु से दो उपसर्ग अभि उद्, और सम् उद् रहते 'ड' प्रत्यय से निष्पन्न होते हैं। अभ्युद्ग=अभ्युद्गत, समुद्ग=समुद्गत।

शर् पाठ में षत्व भी प्रयोजन है। जैसे सर्पिःषु धनुःषु यहाँ शर् कृत व्यवधान होने पर षत्व सिद्ध होता है। इस पाठ का यह भी लाभ है नुम्विसर्जनीयशर्व्यवायेऽपि

अनुस्वारे कृते 'शर्व्यवाये' इत्येव सिद्धम्। अवश्यं नुमो ग्रहणं कर्तव्यम्। अनुस्वारविशेषणं नुम्ग्रहणम्[1]। नुमो योऽनुस्वारस्तस्य यथा स्यात्, इह मा भूत्—पुंस्विति। अथवाऽविशेषेणोपदेशः कर्तव्यः। किं प्रयोजनम्।

अविशेषेण संयोगोपधासंज्ञाऽलोन्त्यद्विर्वचनस्थानिवद्भावप्रतिषेधाः ॥

अविशेषेण संयोगसंज्ञा प्रयोजनम्, उꣳज्जक, हलोऽनन्तराः संयोग इति संयोगसंज्ञा। संयोगे गुर्विति गुरुसंज्ञा गुरोरिति प्लुतो भवति। उपधासंज्ञा च प्रयोजनम्—दुष्कृतम्, निष्कृतम्, दुष्पीतम्, निष्पीतम्, इदुदुपधस्य

(८।३।५८)—इस सूत्र में विसर्जनीय ग्रहण नहीं करना पड़ता (यह लाघव है)। तो सूत्र में 'नुम्' का ग्रहण भी छोड़ा जा सकता है। यदि पूछो सर्पींषि, धनूंषि में षत्व कैसे सिद्ध होगा? नुम्को अनुस्वार करने पर अनुस्वार अयोगवाह के शर् अन्तःपाती होने से 'शर् व्यवाये—'इसी से षत्व हो जायगा। (नहीं) नुम् का तो अवश्य ग्रहण करना होगा। सूत्र में नुम्ग्रहण अनुस्वार का विशेषण है (अनुस्वार विशेष्य है), अर्थ हुआ नुम् का (नुम्स्थानिक) जो अनुस्वार तत्कृत व्यवधान होने पर षत्व हो, इससे 'पुंसु' यहाँ षत्व नहीं होता (यहाँ पुम्स् के म् को अनुस्वार हुआ है)।

अथवा किसी प्रत्याहारविशेष में न पढ़कर अयोगवाहों को अल् आदि सामान्य प्रत्याहारों में पढ़ना चाहिये। क्या प्रयोजन है?

(वा०) सामान्यरूप से अल् आदि प्रत्याहारों में अयोगवाहों के पाठ के ये प्रयोजन हैं—संयोगसंज्ञा, अलोन्त्यविधि, द्विर्वचन तथा स्थानिवद्भावप्रतिषेध-सिद्धि।

सामान्य रूप से अल् अन्तर्गत होने से संयोगसंज्ञा-रूप प्रयोजन सिद्ध होता है—उꣳज्जक, यहाँ 'हलोनन्तराः संयोगः, (१।१।७) इस सूत्र से संयोगसंज्ञा, 'संयोगे गुरु' (१.४।११) इस से गुरु संज्ञा और उस गुरु को 'गुरोरनृतः' (८।२।८६) इत्यादि सूत्र से प्लुत सिद्ध होता है। उपधा-संज्ञा प्रयोजन है—दुष्कृतम्, निष्कृतम् दुष्पीतम्, निष्पीतम्-यहाँ दुःकृतम् इत्यादि में विसर्जनीय (जिह्वामूलीय, उपध्मानीय) को अल्

---

१. अनुस्वार शर् प्रत्याहारान्तर्गत है, इसलिये अनुस्वार-कृत व्यवाय में भी षत्व सिद्ध ही था, तो नुम्-ग्रहण क्यों किया? नुम्-ग्रहण नियमार्थ है। नुम् के स्थान में जो अनुस्वार हुआ उसी के व्यवाय होने पर षत्व हो अन्यत्र मत हो। जिस तरह नक्षत्रं दृष्ट्वा वाचं विसृजेत् (नक्षत्र दर्शन होने पर मौन व्रत तोड़ दे) यहाँ नक्षत्रदर्शन काल-विशेष का उपलक्षण है, जिससे दिन में नक्षत्रदर्शन होने पर भी मौन-त्याग नहीं होता, और रात्रि को मेघादि के होने से नक्षत्र दर्शन न होने पर मौन त्याग होता है, इसी तरह नुम् के होते हुए अनुस्वार के अभाव में षत्व नहीं होता, पर नुम् के न रहने पर तत्स्थानापन्न अनुस्वार के होने पर षत्व होगा।

चाप्रत्ययस्येति षत्वं सिद्धं भवति। नैतदस्ति प्रयोजनम्। न इदुदुपध-ग्रहणेन विसर्जनीयो विशेष्यते। किं तर्हि। सकारो विशेष्यते—इदुदुपधस्य सकारस्य यो विसर्जनीय इति। अथवोपधाग्रहणं न करिष्यते, इदुद्भ्यां तु परं विसर्जनीयं विशेषयिष्यामः—इदुद्भ्यामुत्तरस्य विसर्जनीयस्येति। अलोऽन्त्यविधिश्च प्रयोजनम्—वृक्षस्तरति, प्लक्षस्तरति। अलोन्त्यस्य विधयो भवन्तीत्यलोऽन्त्यस्य सत्वं सिद्धं भवति। एतदपि नास्ति प्रयोजनम्। निर्दिश्यमानस्यादेशा भवन्तीति विसर्जनीयस्यैव भविष्यति। द्विर्वचनं च प्रयोजनम् उर ͡ ͡ कः : उर ͡ ͡ पः : अनचि च अच उत्तरस्य यरो द्वे भवत इति द्विर्वचनं सिद्धं भवति। स्थानिवद्भावप्रतिषेधश्च प्रयोजनम्—यथेह भवति उरःकेण, उरःपेणेति अड्व्यवाय इति णत्वम्, एवमिहापि स्थानिवद्भावात् प्राप्नोति—व्यूढोरस्केन महोरस्केनेति। तत्रानल्विधाविति प्रतिषेधः सिद्धो भवति।

मानकर उकार, इकार की अलोन्त्यात् पूर्व उपधा (१।१।६५) इस शास्त्र से उपधा संज्ञा सिद्ध होती है। तब 'इदुदुपधस्य चाप्रत्ययस्य' (८।३।४१) इस सूत्र से विसर्जनीय को षत्व हो जाता है। यह कोई प्रयोजन नहीं। इदुदुपध—यह विसर्जनीय का विशेषण नहीं; तो किस का? यह सकार का विशेषण है (विसर्ग होने से पूर्व सान्तावस्था में) इकारोपध उकारोपध जो सकार उस के विसर्ग को षत्व होता है ऐसा अर्थ होगा)। अथवा प्रकृतसूत्र में उपधा ग्रहण न करेंगे, इकार उकार को परविसर्जनीय का विशेषण बनायेंगे, इ, उ से अव्यवहित उत्तर जो विसर्ग उसे षत्व होता है। अलोन्त्यविधि भी प्रयोजन है—जैसे वृक्षः तरति, प्लक्षः तरति में 'विसर्जनीयस्य सः' (८।३।३४) इस सूत्र से विसर्जनीयान्त को 'स्' प्राप्त होने पर 'षष्ठी निर्दिष्ट कार्य अन्त्य अल् के स्थान में होता है, इस वचन से अन्त्य अल् विसर्ग के स्थान में होता है। यह भी प्रयोजन नहीं। सकार आदेश है और 'आदेश सूत्र में साक्षात् निर्दिष्ट के स्थान में होते हैं' इस परिभाषा के अनुसार 'स्' विसर्ग के ही स्थान में होगा। द्विर्वचन भी प्रयोजन है—उर ͡ ͡ कः :, उर ͡ ͡ पः : यहाँ विसर्जनीय, जिह्वामूलीय उपध्मानीय के अल् प्रत्याहार में पाठ करने से यर् प्रत्याहारान्तर्गत होना भी अपने आप सिद्ध हो जाता है, तब 'अनचि च' सूत्र से अच् से परे यर् को द्वित्व हो जाता है। स्थानिवद्भावप्रतिषेध भी प्रयोजन है—जैसे उरः केण, उरः पेण अड्व्यवाय होने पर भी णत्व होता है, वैसे ही स्थानिवद्भाव से व्यूढोरस्केन महोरस्केन यहाँ भी प्राप्त होता है। अत्र विसर्जनीय के अल् होने से स्थानी अल् के आश्रित यदि कोई विधि कर्तव्य हो तो 'अनल्विधौ' इस वचन से स्थानिवद्भाव का निषेध हो जाता है (जिस से स् का व्यवधान होने से णत्व रुक जाता है)।

1959 9nP

किं पुनरिमे वर्णा अर्थवन्तः, आहो स्विदनर्थकाः ।

अर्थवन्तो वर्णधातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् ॥

अर्थवन्तो वर्णाः । कुतः धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात्[1] । धातव एकवर्णा अर्थवन्तो दृश्यन्ते एति, अध्येति—अधीते इति । प्रातिपदिकान्येकवर्णान्यर्थवन्ति-आभ्याम्, एभिः, एषु । प्रत्यया अर्थवन्तः—औपगवः, कापटवः । निपाता एकवर्णा अर्थवन्तः—अ अपेहि, इ इन्द्रं पश्य, उ उत्तिष्ठ, अ अपक्राम । धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनान्मन्यामहे—अर्थवन्तो वर्णा इति ।

वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनात् ॥

वर्णव्यत्यये चार्थान्तरगमनान्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति । कूपः सूपो यूप इति । कूप इति सककारेण कश्चिदर्थो गम्यते । सूप इति ककारापाये

तो क्या ये (सभी) वर्ण अर्थवान् हैं अथवा अनर्थक हैं ?

(वा०) वर्ण अर्थवान् हैं क्योंकि हम देखते हैं कि एकवर्णघटित धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय और निपात अर्थ वाले हैं ।

वर्ण अर्थवान् हैं । यह क्योंकर ? इसलिये कि एक वर्ण वाले धातु प्रातिपदिक प्रत्यय और निपातों का अर्थ देखने में आता है । धातु एकवर्णघटित अर्थवान् देखे जाते हैं (जैसे) इण् (गत्यर्थक), अधिइक् (स्मरणार्थक), अधि इङ् (अध्ययनार्थक) । प्रातिपदिक एकवर्णघटित अर्थ वाले देखे जाते हैं (जैसे) आभ्याम्, एभिः, एषु (यहाँ विभक्ति परे होने पर 'इदम्' के स्थान में 'अ' मात्र अवशिष्ट रहता है और यही तदर्थ का बोधक है) । प्रत्यय (एकवर्णघटित) अर्थ वाले देखे जाते हैं, (जैसे) औपगवः, कापटवः (यहाँ अण् प्रत्यय है) । एक वर्ण वाले निपात अर्थवाले देखे जाते हैं, (जैसे) अ अपेहि, इ इन्द्रं पश्य , उ उत्तिष्ठ, अ अपक्राम (यहाँ अ, इ, उ का वितर्क आदि अर्थ है) । सो धातु प्रातिपदिक प्रत्यय और निपात—इनका एकवर्णघटित होने पर भी अर्थ देखा जाने से हम समझते हैं कि वर्ण अर्थवान् हैं ।

(वा०) वर्ण के बदल जाने पर अर्थ बदल जाने से ॥

वर्ण के बदल जाने पर अर्थ बदल जाने से हम जानते हैं कि वर्ण अर्थवान् हैं । (उदाहरण) कूपः सूपः, यूपः । कूप शब्द में जब तक ककार है तब कुछ विशेष

---

१. प्रक्रियोपयोगी प्रकृति-प्रत्ययों का वर्ण स्फोट मान कर वाचकत्व कहा गया है । शास्त्र व्यवहार में ही इसका उपयोग है । इस वासना से वासितान्तःकरण शास्त्रज्ञ भी लोक व्यवहार में ऐसा कहते हैं ।

सकारोपजने चार्थान्तरं गम्यते। यूप इति ककारसकारापाये यकारोपजने चार्थान्तरं गम्यते। तेन मन्यामहे—यः कूपे कूपार्थः स ककारस्य, यः सूपे सूपार्थः स सकारस्य, यो यूपे यूपार्थः स यकारस्येति।

वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः ॥

वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेर्मन्यामहेऽर्थवन्तो वर्णा इति। वृक्ष ऋक्षः, काण्डीर आण्डीरः। वृक्ष इति सवकारेण कश्चिदर्थो गम्यते, ऋक्ष इति वकारापाये सोऽर्थो न गम्यते। काण्डीर इति सककारेण कश्चिदर्थो गम्यते, आण्डीर इति ककारापाये सोऽर्थो न गम्यते। किं तर्ह्युच्यते—अनर्थगतेरिति। न साधीयो ह्यत्रार्थस्य गतिर्भवति। एवं तर्हीदं पठितव्यं स्यात्—वर्णानुपलब्धौ चातदर्थगतेरिति। किमिदमतदर्थगतेरिति। तस्यार्थस्तदर्थः। तदर्थस्य गतिस्तदर्थगतिः। न तदर्थगतिरतदर्थगतिरतदर्थगतेरिति। अथवा सोऽर्थस्तदर्थस्तदर्थस्य गतिस्तदर्थगतिः न तदर्थगतिरतदर्थगतिरतदर्थगतेरिति। स तर्हि तथा निर्देशः

अर्थ का बोध होता है। सूप में ककार के चले जाने से और सकार के आजाने से कोई दूसरा अर्थ प्रतीत होता है। यूप में ककार सकार दोनों के चले जाने से और यकार के आजाने से कुछ और ही अर्थ का बोध होता है। इससे हम जानते हैं कि कूप शब्द में जो कूआँ अर्थ है वह ककार का है, सूप में जो सूप अर्थ है वह सकार का है और यूप में जो यूपार्थ (यज्ञियपशु बन्धन काष्ठ) है वह यकार का है।

(वा०) वर्ण का अदर्शन (अश्रवण) होने पर (पूर्व) अर्थ का बोध न होने से ॥ (भा०) वर्ण का अदर्शन (अश्रवण) होने पर जो (पूर्व) अर्थ का बोध नहीं होता इससे हम जानते हैं कि वर्ण अर्थवान् हैं। (उदाहरण) वृक्ष ऋक्ष, काण्डीर आण्डीर। वकार सहित वृक्ष का कुछ विशेष अर्थ (पादप) अवगत होता है, जब वकार नहीं रहता तो ऋक्ष मात्र से उस अर्थ का बोध नहीं होता। इसी प्रकार काण्डीर शब्द जब ककार सहित है तब किसी एक अर्थ का बोधक होता है, जब ककार के चले जाने से आण्डीर रूप रहता है तब उस अर्थ का बोधक नहीं होता। 'अनर्थगतेः' यहाँ क्या कहा है? इस वचन से अच्छी तरह अर्थ की प्रतिपत्ति नहीं होती। अच्छा तो ऐसा पढ़ना चाहिये--वर्णानुपलब्धौ चातदर्थगतेः। 'अतदर्थगतेः' इसका क्या अर्थ है? तदर्थः=उसका अर्थ। तदर्थगति=उसके अर्थ की प्रतीति। नञ्पूर्वक पञ्चम्यन्त का अर्थ होगा=उसके अर्थ की प्रतीति न होने से। अथवा तदर्थः (समानाधिकरण तत्पुरुष मानकर)=वह अर्थ। तदर्थगतिः=उस अर्थ का बोध। नञ्पूर्वक पञ्चम्यन्त 'अतदर्थगतेः' का अर्थ होगा - उस अर्थ का बोध न होने से। तो फिर ऐसा निर्देश करना चहिये

---

१. ऋक्ष = नक्षत्र (नपुंसक लिङ्ग में), भालू (पुंल्लिङ्ग)। काण्डीर = काण्डवान् = शरधारी। आण्डीर = अण्डवान्। अण्डपर्याय आण्ड भी है और आण्डी भी।

कर्तव्यः । न कर्तव्यः । उत्तरपदलोपोत्र द्रष्टव्यः । तद्यथा—उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य उष्ट्रमुखः खरमुखः । एवमतदर्थगतेरनर्थगतेरिति ।

सङ्घातार्थवत्त्वाच्च ॥

सङ्घातार्थवत्त्वाच्च मन्यामहे अर्थवन्तो वर्णा इति । येषां संघाता अर्थवन्तः, अवयवा अपि तेषामर्थवन्तः । [येषां पुनरवयवा अनर्थकाः समुदाया अपि तेषामनर्थकाः] तद्यथा—एकश्चक्षुष्मान् दर्शने समर्थः तत्समुदायः शतमपि समर्थम् । एकश्च तिलस्तैलदाने समर्थः तत्समुदायः खार्यपि तैलदाने समर्था । येषां पुनरवयवा अनर्थकाः समुदाया अपि तेषामनर्थकाः । तद्यथा—एकोन्धो दर्शनेऽसमर्थस्तत्समुदायः शतमप्यसमर्थम् । एका च सिकता तैलदानेऽसमर्था तत्समुदायश्च खारीशतमप्यसमर्थम् ।

यदि तर्हीमे वर्णा अर्थवन्तः, अर्थवत्कृतानि प्राप्नुवन्ति । कानि । अर्थवत्प्रातिपदकम् इति प्रातिपदिकसंज्ञा, प्रातिपदिकादिति स्वाद्युत्पत्तिः, सुबन्तं पदमिति पदसंज्ञा । तत्र को दोषः । 'पदस्य' इति नलोपादीनि प्राप्नुवन्ति धनं वनमिति ।

नहीं । 'अनर्थगतेः' में (नञ् की अपेक्षा से) उत्तरपद 'तद्' का लोप समझना चाहिये । जैसे (अन्यत्र भी) उष्ट्रमुखमिव मुखमस्य इस विग्रह के आश्रित उष्ट्रमुखः (और इसी प्रकार खरमुखः) में उत्तरपद 'मुख' का लोप देखा जाता है । ऐसे ही 'अतदर्थगतेः' के स्थान में 'अनर्थगतेः' (उत्तरपद तद् का लोप करके कहा है) ।

(वा०) सङ्घात (वर्णसमुदाय) के अर्थवान् होने से ॥

सङ्घात के अर्थवान् होने से हम जानते हैं वर्ण अर्थवान् होते हैं । (इसमें हेतु=अनुकूल तर्क यह है) । (जिन अवयवों के) सङ्घात अर्थवान् होते हैं वे अवयव भी अर्थवान् होते हैं । [और जिनके अवयव अनर्थक होते हैं उनके सङ्घात= समुदाय भी अनर्थक होते हैं] जैसे एक पुरुष आँखोंवाला देखने में समर्थ है ऐसे सौ का समुदाय भी समर्थ है । एक तिल तेल देने में समर्थ है ऐसे तिलों का समुदाय खारी परिमाण भी तेल देने में समर्थ है । और जिनके अवयव अनर्थक होते हैं उनके समुदाय भी अनर्थक होते हैं । जैसे एक अन्धा पुरुष देखने में असमर्थ है, ऐसों का समुदाय सौ अन्धे भी देखने में असमर्थ हैं । रेत का एक कण तेल देने में असमर्थ है, उनका समुदाय सौ खारी परिमाण भी तेल देने में असमर्थ है ।

यदि ये वर्ण अर्थवान् हैं ऐसा स्वीकार करते हो तो जो (शास्त्रीय) कार्य अर्थवान् को होते हैं इन्हें भी होने लगेंगे । वे कौन से हैं ? अर्थवान् शब्द की प्रातिपदिक संज्ञा होती है, प्रातिपदिक से स्वादि प्रत्ययों की उत्पत्ति होती है और स्वादिप्रत्ययान्त (सुबन्त) की पदसंज्ञा होती है । इसमें क्या दोष आता है ? पदसंज्ञा होने पर 'नलोपः प्रातिपदिकान्तस्य' इत्यादि से धनं वनं इत्यादि में न लोप आदि प्राप्त होते हैं ।

सङ्घातस्यैकार्थ्यात्सुबभावो वर्णात् ॥

सङ्घातस्यैकत्वमर्थः । तेन वर्णात्सुबुत्पत्तिर्न भविष्यति ।

अनर्थकास्तु प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः ॥

अनर्थकास्तु वर्णाः । कुतः । प्रतिवर्णमर्थानुपलब्धेः । नहि प्रतिवर्णमर्थाउपलभ्यन्ते । किमिदं प्रतिवर्णमिति । वर्णं वर्णं प्रति प्रतिवर्णम् ।

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनात् ॥

वर्णव्यत्ययापायोपजनविकारेष्वर्थदर्शनान्मन्यामहे—अनर्थका वर्णा इति । वर्णव्यत्यये —कृतेस्तर्कः, कसेः सिकताः, हिंसेः सिंहः । वर्णव्यत्ययो नार्थव्यत्ययः । अपायो लोपः—हतः, घ्नन्ति, घ्नन्तु, अघ्नन् । वर्णापायो नार्थापायः । उपजन आगमः—लविता लवितुम् । वर्णोपजनो नार्थोपजनः । विकार आदेशः—घातयति घातकः । वर्णविकारो नार्थविकारः । यथैव वर्णव्यत्यया-

---

(वा०) सङ्घात (वर्णसमुदाय) के एकार्थवाचक होने से प्रतिवर्ण से सु आदि प्रत्ययों की उत्पत्ति नहीं होगी ।

सङ्घात (वर्ण समुदाय) का एकत्व अर्थ है, अतः सङ्घात से सु प्रत्यय की उत्पत्ति होगी, प्रतिवर्ण से नहीं (यद्यपि एक-एक वर्ण का भी एकत्व अर्थ है) ।

(वा०) वर्ण तो अनर्थक हैं प्रतिवर्ण में अर्थ की उपलब्धि न होने से ॥

वर्ण तो अनर्थक हैं । कैसे ? प्रत्येक वर्ण में अर्थ के न देखे जाने से । वर्ण-वर्ण में तो अर्थों की उपलब्धि होती नहीं । 'प्रतिवर्णम्' का क्या अर्थ है ? वर्ण वर्ण में ।

(वा०) वर्ण व्यत्यय (पूर्वापर वर्ण-व्यत्यास), वर्णापाय (वर्ण-लोप), वर्णोपजन (वर्णागम) और वर्णविकार (वर्ण-आदेश) के होने पर अर्थ देखे जाने से ॥

वर्णव्यत्यय, अपाय, उपजन, विकार इन के होने पर (भी) अर्थ देखे जाने से हम जानते हैं कि वर्ण अनर्थक हैं । वर्णव्यत्यय होने पर कृती छेदने से तर्क सिद्ध होता है, कस गतौ से सिकता, हिसि हिंसायाम् से सिंह । यहाँ वर्णव्यत्यय तो स्पष्ट है पर अर्थव्यत्यय कुछ भी नहीं । अपाय नाम लोप का है । जैसे हतः घ्नन्ति घ्नन्तु अघ्नन् में हन् धातु के मध्यवर्ती अकार का लोप हुआ है । वर्णापाय तो है पर अर्थापाय कुछ भी नहीं । उपजन नाम आगम का है । जैसे लविता लवितुम्— यहाँ लूधातु से आर्धधातुक प्रत्यय को इट् आगम (उपजन) हुआ है, पर अर्थोपजन कुछ भी नहीं । विकार नाम आदेश का है । जैसे घातयति, घातकः । यहाँ हन् के ह् को घ हुआ । वर्णविकार तो हुआ है अर्थविकार कुछ भी नहीं । (यदि वर्ण अर्थवान् होते तो) जैसे वर्ण-

पायोपजनविकारा भवन्ति, तद्वदर्थव्यत्ययापायोपजनविकारैर्भवितव्यम्। न चेह तद्वत्। अतो मन्यामहे—अनर्थका वर्णा इति।

उभयमिदं वर्णेषूक्तम्—अर्थवन्तोऽनर्थका इति च। किमत्र न्याय्यम्। उभयमित्याह। कुतः। स्वभावतः। तद्यथा समानमीहमानानां चाधीयानानां च केचिदर्थैर्युज्यन्ते, अपरे न।

न चेदानीं कश्चिदर्थवानिति कृत्वा सर्वैरर्थवद्भिः शक्यं भवितुम्, कश्चिद्वाऽनर्थक इति कृत्वा सर्वैरनर्थकैः। तत्र किमस्माभिः शक्यं कर्तुम्—यद्धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपाता एकवर्णा अर्थवन्तोऽतोऽन्येऽनर्थका इति। स्वाभाविकमेतत्। कथं य एष भवता वर्णानामर्थवत्तायां हेतुरुपदिष्टः—अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनाद्व्यत्यये चार्थान्तरगमनाद्वर्णानुपलब्धौ चानर्थगतेः सङ्घातार्थवत्त्वाच्चेति। सङ्घातान्तराण्येवैतान्येवञ्जातीयकान्यर्थान्तरेषु वर्तन्ते कूपः सूपो यूप इति। यदि हि वर्णव्यत्ययकृतमर्थान्तरगमनं स्यात्, भूयिष्ठः कूपार्थः सूपे स्यात्, सूपार्थश्च कूपे, कूपार्थश्च यूपे, यूपार्थश्च कूपे, सूपार्थश्च यूपे, यूपार्थश्च सूपे।

व्यत्यय आदि होते हैं वैसे ही अर्थव्यत्यय आदि भी होने चाहिये थे, पर ऐसा होता नहीं। इस से हम जानते हैं कि वर्ण अनर्थक हैं।

वर्णों के विषय में यह दोनों बातें कही गई हैं—वर्ण अर्थवान् हैं, वर्ण अनर्थक हैं। इस में न्याय्य पक्ष कौनसा है? दोनों पक्ष न्याय्य हैं। यह कैसे? स्वभाव से। जैसे एक बराबर यत्न करते हुए और पढ़ते हुए छात्रों में से कुछ अर्थवान् (सफल) होते हैं, दूसरे नहीं।

किसी एक के अर्थवान् (सफल, अर्थयुक्त) होने से सभी तो अर्थवान् नहीं हो जाते और न ही कोई एक अर्थशून्य (असफल, अर्थरहित) है तो इतने से सभी असफल हों ऐसा कोई नियम है। यहाँ हमें क्या सिद्धान्त करना चाहिये—यही कि एक वर्ण-घटित धातु, प्रातिपदिक, प्रत्यय, निपात अर्थवान् हैं, इन से अतिरिक्त अनर्थक हैं। और यह स्वभावसिद्ध है। ये जो पूर्वपक्षी ने वर्णों की अर्थवत्ता (सार्थकता) में हेतु दिये हैं—अर्थवन्तो वर्णा धातुप्रातिपदिकप्रत्ययनिपातानामेकवर्णानामर्थदर्शनात् इत्यादि उनका क्या समाधान है? (इस पर सिद्धान्ती कहता है) कूप, सूप, यूप इत्यादि स्वतन्त्र एक-दूसरे से असम्बद्ध सङ्घात हैं और इसीलिये भिन्न-भिन्न अर्थों में वर्तमान हैं। यदि वर्ण के बदलने से सङ्घात (एक माना हुआ) का अर्थ बदलता हो, तो बहुतसा कूपार्थ सूपशब्द से बोधित होना चाहिये (कुछ अंश न भी हो), सूप का बहुतसा अर्थ कूप शब्द से, बहुतसा कूपार्थ यूपशब्द से, बहुतसा यूपार्थ कूपशब्द से, बहुत सा सूपार्थ यूपशब्द से और बहुतसा यूपार्थ सूपशब्द से। पर चूँकि सूप का अंशमात्र अर्थ भी

यतस्तु खलु न किञ्चित्सूपस्य वा यूपे, यूपस्य वा कूपे, कूपस्य वा यूपे, सूपस्य वा कूपे, कूपस्य वा सूपे, सूपस्य वा यूपे। अतो मन्यामहे—सङ्घातान्तराण्येतान्येवञ्जातीयान्यर्थान्तरेषु वर्तन्त इति।

इदं खल्वपि भवता वर्णानामर्थवत्तां ब्रुवता साधीयो ऽनर्थकत्वं द्योतितम्। यो हि मन्यते—यः कूपे कूपार्थः स ककारस्य, यः सूपे सूपार्थः स सकारस्य, यो यूपे यूपार्थः स यकारस्येति, ऊपशब्दस्त्वस्यानर्थकः स्यात्। तत्रेदमपरि हृतं सङ्घातार्थवत्त्वाच्च इति। एतस्यापि प्रातिपदिकसंज्ञायां परिहारं वक्ष्यति[२]।

अ इ उण्, ऋलृक्, ए ओङ्, ऐ औच्।

प्रत्याहारेऽनुबन्धानां कथमज्ग्रहणेषु न

यूपशब्द से बोधित नहीं होता, नाहीं यूप का कूपशब्द से, कूप का यूपशब्द से, सूप का कूपशब्द से, कूप का सूप शब्द से, सूप का यूपशब्द से, इस से हम जानते हैं कि कूप, सूप, यूप—ये स्वतन्त्र सङ्घात अपने-अपने अर्थों में व्यवहृत होते हैं।

आप ने वर्णों की अर्थवत्ता का उपपादन करते हुए बहुत अच्छी तरह से उन की अनर्थकता झलकादी। यह जो आप मानते हैं कि जो कूप शब्द में कूपार्थ है वह ककार का है, सूप शब्द में जो सूपार्थ है वह सकार का है, यूपशब्द में जो यूपार्थ है वह यकार का है, ऐसा मानने से 'ऊप'शब्द तो अनर्थक हो जाता है (यह क्यों नहीं देखते !)। रहा 'सङ्घातार्थवत्वाच्च' इसहेतु का उत्तर, सो उसे भी प्रातिपदिकसंज्ञाविधायक सूत्र 'अर्थवदधातुरप्रत्ययः प्रातिपदिकम्' में कहेंगे।

अ इ उण्, ऋ लृक्, ए ओङ्, ऐ औच्।

(वा०) अच् प्रत्याहार में जो अनुबन्ध (ण्, क्, ङ् च्) सुने जाते हैं उनका अच् ग्रहण से ग्रहण क्यों नहीं होता ?

१. इसी बात को वाक्यपदीयकार महावैयाकरण श्रीभर्तृहरि ने इस प्रकार कारिका में निबन्धन किया है—

न कूपसूपयूपानामन्वयोऽर्थस्य विद्यते।
अतोऽर्थान्तरवाचित्वं संङ्घातस्यैव गम्यते॥

२. वहाँ यह परिहार कहा है—दृष्टो ह्यतदर्थेन गुणेन गुणिनोऽर्थभावः, ऐसा देखा जाता है कि एक-एक अवयव में जो गुण नहीं है वह भी कहीं अवयवी (सङ्घात) में आजाता है जैसे रथ के प्रत्येक अङ्ग में गति क्रिया विषयक सामर्थ्य नहीं तो भी समुदाय रथ में गति–सामर्थ्य होता है, अथवा जैसे सुरा के प्रत्येक घटक अवयव—द्रव्य में मादकता गुण नहीं तो भी अवयवी (उन अवयवों से घटित) (समुदाय) सुरा में मादकता देखी जाती है, सो यह कोई नियम नहीं कि संघात यदि अर्थवान् है तो अवयव भी अर्थवान् ही हों। अतः जहाँ अन्वय व्यतिरेक से अर्थवत्ता सिद्ध हो वहीं स्वीकार करनी चाहिये, न कि सर्वत्र।

य एतेऽच्छु प्रत्याहारार्था अनुबन्धाः क्रियन्ते एतेषामज्ग्रहणेन ग्रहणं कस्मान्न भवति । किं च स्यात् । दधि णकारीयति, इको यणचि इति यणादेशः प्रसज्येत ।

आचारात्[1]

किमिदमाचारादिति । आचार्याणामुपचारात् । नैतेष्वाचार्या अच्कार्याणि कृतवन्तः ।

अप्रधानत्वात्[2]

अप्रधानत्वाच्च । न खल्वेतेषामच्छु प्राधान्येनोपदेशः क्रियते । क्व तर्हि । हल्षु । कुत एतत् । एषा ह्याचार्यस्य शैली[3] लक्ष्यते यत्तुल्यजातीयांस्तुल्यजातीयेषूपदिशति—अचोऽच्छु हलो हल्षु ।

लोपश्च बलवत्तरः[4]

जो ये अचों में प्रत्याहार (अक्, अण् आदि) के लिये अनुबन्ध न्, क्, आदि किये गये हैं इनका अज्ग्रहण से (अच् कहने से) ग्रहण क्यों नहीं होता ? क्या हो (यदि हो जाय) ? दधि णकारीयति—यहाँ इको यणचि (६।१।७७) से यणादेश होने लगेगा ।

आचारात्

'आचार' इसका क्या अर्थ है । आचार्यों का व्यवहार, उससे । आचार्यों ने इन ण् क् आदि के परे होने पर अच्-निमित्तक कार्य नहीं किया ।

अप्रधान होने से

अप्रधान होने से भी । इन ण् क् आदि के अचों में प्रधानतया उपदेश (उच्चारण) नहीं किया है । तो कहाँ प्रधानतया उच्चारण किया है ? हलों में । यह क्यों कर ? आचार्य की ऐसी शैली दीखती है कि तुल्य जाति के वर्णों को एक साथ उपदेश करते हैं अचों का एक साथ उपदेश करके पश्चात् हलों का उपदेश करते हैं ।

लोप भी बलवत्तर है ।

---

१. आचार्यों का व्यवहार, उससे । तृषिमृषिकृषेः काश्यपस्य (१।२।२५) में मृषि के 'इ' से परे 'कृषि' के ककार के परे होने पर 'यण्' न करना – यह आचार है ।

२. प्रधानाप्रधानसंनिधौ प्रधानमेव कार्याणां प्रयोजकम् अर्थात् प्रधान व अप्रधान के एक साथ उच्चारित होने पर प्रधान को ही कार्य होता है ऐसा न्याय है । परार्थ होने से अनुबन्ध अप्रधान हैं, अतः इनकी 'अच्' संज्ञा नहीं होती ।

३. शीले भवा शैली, समवधानपूर्विका प्रवृत्तिः ।

४. लोप पर, नित्य और अन्तरङ्ग होने से बलवत्तर है अर्थात् पहले ही अनुबन्धों का लोप होने से संज्ञा–विधान काल में उनके न होने से उनकी अच् संज्ञा नहीं

लोपः खल्वपि तावद्भवति ।

ऊकालोऽजिति वा योगस्तत्कालानां यथा भवेत्[1] ।

अचां ग्रहणमच्कार्यं तेनैषां न भविष्यति ॥

अथवा योगविभागः करिष्यते—ऊ कालोऽच् उ ऊ उ ३ इत्येवंकालोऽऽ-भवति । ततो 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' ह्रस्वदीर्घप्लुतसंज्ञश्च स भवति - ऊकालोऽच् । एवमपि कुक्कुट[2] इत्यत्रापि प्राप्नोति । तस्मात्पूर्वोक्त[3] एव परिहारः । एष एवार्थः । अपर आह—

ह्रस्वादीनां वचनात् प्राग्यावत्तावदेव योगोऽस्तु ।

लोप भी निश्चय से इन ण् क् आदि का हो जाता है ।

(वा०) ऊकालो ऽच् ऐसा योगविभाग करने से उ ऊ उ३ काल वाले वर्णों की अच् संज्ञा होने से इन ण् क् आदि को अच् निमित्तक कार्य नहीं होता ।

अथवा योगविभाग किया जायगा । "ऊकालोऽच्" इतना एक सूत्र होगा । अर्थ होगा उ (एकमात्रिक) ऊ (द्विमात्रिक), उ ३ (त्रिमात्रिक) वर्णों की अच् संज्ञा होती है । दूसरा सूत्र होगा—"ह्रस्वदीर्घप्लुतः", अर्थ होगा—एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक अच् क्रम से ह्रस्व, दीर्घ, प्लुत संज्ञक होता है ।
पर इस प्रकार एकमात्रिक वर्ण की अच् संज्ञा होने से 'कुक्कुट' में क् (संयोग-रूप-एक अक्षर) की (एक मात्रिक होने से) अच् संज्ञा होने लगेगी, अतः पूर्वोक्त[3] परिहार ही ठीक रहा । इसी ('ऊकालोऽज्' वार्तिक से कहे हुए) अर्थ को दूसरा वार्तिककार ऋषि यूं कहता है—

(वा०) 'ऊकालो ज्झ्रस्वदीर्घप्लुतः, इस सूत्र में 'ह्रस्वदीर्घप्लुतः' इस अंश से

होती । अनुबन्धों की उच्चारण—काल में ही सत्ता है, इत्संज्ञा के आधार पर जो कार्य प्राप्त होता है उसे वे अविद्यमान होते हुए ही करते हैं, स्वयं किसी कार्य का विषय नहीं बनते ।

१. अकार आदि का उपदेश होने से और सवर्णों का ग्रहण होने से 'अच्त्व' सिद्ध ही है, योग विभाग से काल विशेष विशिष्ट अकारादि की ही अच् संज्ञा होने से अनुबन्धों का ऊकाल (एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक) न होने से 'अच्त्व' नहीं ।

२. वर्ण समाम्नाय में ककार जाति का निर्देश होने से मात्रिक क् को अच् समझ कर प्रश्न है ।

३. यद्यपि यहाँ—'दो ककार हैं, और दो वर्णों से एक जाति की अभिव्यक्ति नहीं होती,' यह भी परिहार हो सकता है, तो भी पूर्व कहा हुआ—मात्राकालोऽत्र गम्यते, न च मात्रिकं व्यञ्जनमस्ति—यह परिहार अभिमत है ।

अच्कार्याणि यथा स्युस्तत्कालेष्वच्सु कार्याणि ॥

अथ किमर्थमन्तःस्थानामणसूपदेशः क्रियते। इह स यँ यँ यन्ता स वँ वँ वत्सरः, य लँ लँ लोकं, त लँ लँलोकमिति परसवर्णस्यासिद्धत्वादनुस्वारस्यैव द्विचनम्। तत्र परस्य परसवर्णे कृते तस्य ययग्रहणेन ग्रहणात् पूर्वस्यापि परसवर्णो यथा स्यात्। नैतदस्ति प्रयोजनम्। वक्ष्यत्येतत्—द्विर्वचने परसवर्णत्वं सिद्धं वक्तव्यमिति। यावता सिद्धत्वमुच्यते परसवर्ण एव तावद्भवति। परसवर्णे तर्हि कृते तस्य यर्ग्रहणेन ग्रहणाद् द्विर्वचनं यथा स्यात्। मा भूद् द्विर्वचनम्। ननु च भेदो भवति—सति द्विर्वचने त्रियकारकम्, असति द्विर्वचने द्वियकारकम्। नास्ति भेदः। सत्यपि द्विर्वचने द्वियकारकमेव। कथम्। 'हलो यमां यमि लोपः' इत्येवमेकस्य लोपेन भवितव्यम्। एवमपि भेदः। सति द्विर्वचने

पूर्व 'ऊकालोऽच्' इत्येवंरूप ही पृथक् योग रहे, जिससे एकमात्रिक, द्विमात्रिक, त्रिमात्रिक अचों को ही अच् को उद्देश्य अथवा निमित्त मान कर विधान किये कार्य हो सकें।

अब इस पर विचार किया जाता है कि अन्तःस्थ वर्ण य व ल का अण् प्रत्याहार में पाठ करने का क्या प्रयोजन है। यहाँ सं यन्ता सं वत्सरः यं लोकम् इस अवस्था में 'वा पदान्तस्य' (८।४।५६) इससे यय् परे होने पर अनुस्वार को पर सवर्ण भी प्राप्त होता है और 'अनचि च' से द्वित्व भी। द्विर्वचन शास्त्र अनचि च (८।४।४७) की दृष्टि में पर सवर्ण शास्त्र 'वा पदान्तस्य' (८।४ ५६) असिद्ध होने से अनुस्वार को द्वित्व ही होगा। तब स– – यन्ता इस अवस्था में परले अनुस्वार को पर सवर्ण यँ करने पर ग्रहणक शास्त्र 'अणुदित्—' के लगने पर अण्त्वेन गृहीत होने पर सानुनासिक यकार के 'यय्' प्रत्याहारान्तःपाती हो जाने से पूर्व अनुस्वार को भी परसवर्ण हो जाय (यह प्रयोजन है)। (जिससे स यँ यँ यन्ता रूप सिद्ध हो जाय)। यह कोई प्रयोजन नहीं। आगे कहेंगे कि द्विर्वचन की कर्तव्यता में परसवर्ण को सिद्ध कहना चाहिये। अब चूँकि परसवर्ण सिद्ध है, अतः पर होने से पहले पर सवर्ण ही होगा। अच्छा तो अब भी अण् में पाठ का प्रयोजन बना रहा, कारण कि अनुस्वार को पर सवर्ण यँ होने पर और ग्रहणक शास्त्र के बल पर इसे 'यर्' मान कर 'अनचि च' से द्वित्व हो जायगा। मत हो द्वित्व (द्वित्व का कुछ प्रयोजन नहीं, अतः अण् में पाठ की सार्थकता नहीं)। अजी द्वित्व सप्रयोजन है, इससे शब्द रूप में भेद होता है। जब द्वित्व हो तो शब्द (स यँ यँ यन्ता) तीन यकारों वाला होता है, द्वित्व न हो तो द्वियकार वाला। नहीं कुछ भेद नहीं। द्वित्व होने पर भी द्वियकार वाला ही रूप होता है। कैसे? 'हलो यमां यमि लोपः' (८।४।६०) इससे एक यकार का लोप हो जायगा। तो

कदाचिद् द्वियकारकम्, कदाचित् त्रियकारकम् । असति त्रियकारकमेव । स एष कथं भेदो न स्यात् । यदि नित्यो लोपः स्यात् । विभाषा च स लोपः । यथाऽभेदस्तथास्तु ।

अनुवर्तते विभाषा शरोऽचि यद्वारयत्ययं द्वित्वम् ।

यदयं 'शरोऽचि' इति द्विर्वचनप्रतिषेधं शास्ति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽनुवर्तते विभाषेति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् ।

नित्ये हि तस्य लोपे प्रतिषेधार्थो न कश्चित्स्यात् ।

यदि नित्यो लोपः स्यात् प्रतिषेधवचनमनर्थकं स्यात् । अस्त्वत्र द्विर्वचनम्, 'झरो झरि सवर्णे' इति लोपो भविष्यति । पश्यति त्वाचार्यः-विभाषा स लोप इति, ततो द्विर्वचनप्रतिषेधं शास्ति । नैतदस्ति ज्ञापकम् । नित्येपि तस्य लोपे स प्रतिषेधोऽवश्यं वक्तव्यः यदेतद् 'अचो रहाभ्याम्' इति द्विर्वचनं लोपापवादः स विज्ञायते । कथम् । यर इत्युच्यते । एतावन्तश्च

भी भेद रहेगा । द्वित्व होने पर कभी (पाक्षिक लोप होने पर) द्वियकारवाला, कभी (लोपाभाव पक्ष में) तीन यकार वाला । जब द्वित्व हुआ ही नहीं तो द्वियकारवाला एक ही रूप होता है । यह भेद कैसे न हो ? तभी जब कि 'हलो यमां—' यह लोप नित्य हो । पर यह लोप विभाषा होता है । जिस प्रकार (द्वित्व शास्त्र की प्रवृत्ति और अप्रवृत्ति में) एक समान रूप रहे वैसे ही हो ।

(वा०) 'हलो यमां—' में झयो होऽन्यतरस्याम् (८।४।६२) से विभाषा (अन्यतरस्याम्) की अनुवृत्ति आती है । क्योंकि आचार्य 'शरोऽचि' (८।४।४६) सूत्र से द्वित्व का प्रतिषेध करते हैं । यह ज्ञापक कैसे हुआ !

(वा०) उस 'हलो यमां—' लोप के नित्य होने पर 'शरोऽचि' से द्वित्व प्रतिषेध करना व्यर्थ है ।

यदि लोप नित्य हो तो प्रतिषेध-वचन (शरोऽचि) व्यर्थ हो जायगा । निषेध वचन न हो, द्वित्व हो, तो भी झरो झरि सवर्णे (८।४।६५) से द्वित्व से निष्पन्न हुए एक यकार का (नित्य) लोप हो जायगा । पर आचार्य जानते हैं कि वह 'झरो झरि सवर्णे' से विहित लोप वैकल्पिक है , अत एव द्वित्व का प्रतिषेध करते हैं । यह कोई ज्ञापक नहीं झरो झरि सवर्णे के लोप के नित्य होने पर भी वह प्रतिषेध (शरोऽचि) अवश्य कहना होगा । यह जो 'अचो रहाभ्याम्' (८।४।४६) यह द्वित्व शास्त्र है, यह लोप का अपवाद है । कैसे ! द्वित्व 'यर्' को कहा है । इतने ही तो यर् हैं—यम् और

यरः। यदुत झरो वा यमो वा। यदि चात्र लोपः स्याद् द्विर्वचनमनर्थकं स्यात्। किन्तर्हि तयोर्योगयोरुदाहरणम्। यदकृते द्विर्वचने त्रिव्यञ्जनः संयोगः—प्रत्तम्, अवत्तम्, आदित्यः। इहेदानीं सामर्थ्याल्लोपो न भवति, एवमिहापि लोपो न स्यात् कर्षति वर्षतीति। तस्मान्नित्येपि लोपेऽवश्यं स प्रतिषेधो वक्तव्यः। तदेतदत्यन्तं सन्दिग्धं वर्तत आचार्याणां विभाषाऽनुवर्तते न वेति।

लण्॥ ६॥

अयं णकारो द्विरनुबध्यते पूर्वश्चैव परश्च। तत्राण्ग्रहणेष्विण्ग्रहणेषु च सन्देहो भवति पूर्वेण वास्युः परेण वेति। कतमस्मिंस्तावदण्ग्रहणे सन्देहः 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः इति।

(असन्दिग्धम्)

असन्दिग्धं पूर्वेण न परेण। कुत एतत्।

झर्। यदि यहाँ (द्वित्व होने पर) लोप हो, तब द्वित्वविधान अनर्थक हो जायगा। तो इन 'झरो झरि', 'हलो यमां—' इनका क्या उदाहरण है? जहाँ द्वित्व किये बिना तीन व्यञ्जनों का समुदाय है, जैसे प्रत्तम् (प्र दा तम्=प्रद्त् तम्), अवत्तम्, आदित्यः (आदित् यय)। कर्त्ता हर्त्ता में 'अचो रहाभ्यां द्वे' दित्व विधान व्यर्थ मत हो इसलिये झरो झरि से लोप नहीं होता। जैसे द्वित्व सामर्थ्य से लोप नहीं होता, इसी प्रकार कर्षति वर्षति में भी लोप नहीं होगा। इसलिये लोप के नित्य होने पर भी 'शरोऽचि' यह प्रतिषेध कहना पड़ेगा। सो यह अत्यन्त सन्दिग्ध है कि आचार्यों के मत में हलो यमां यमि लोपः, झरो झरि सवर्णे में झयो होऽन्यतरस्याम् से विभाषा (=अन्यतरस्याम्) की अनुवृत्ति आती है अथवा नहीं।

लण्॥ ६॥

यह णकार दो बार अनुबन्ध-रूप से आया है—पहले और पीछे। सूत्रों में जहाँ जहाँ अण् ग्रहण किया है अथवा इण् ग्रहण किया है वहाँ पूर्व णकार (अ इ उ ण् इस सूत्र के णकार) से प्रत्याहार समझना चाहिये अथवा परले णकार (लण सूत्र के णकार) से।

कौन से अण्ग्रहण में सन्देह है? 'ढ्रलोपे पूर्वस्य दीर्घोऽणः (६।३।१११) इससूत्र के अण् के विषय में।

(निःसन्देह)

निःसन्देह यहाँ अण् पूर्व णकार से लिया जाता है पर से नहीं। यह क्योंकर?

पराभावात् ।

नहि ढ्लोपे परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति—आतृढ आवृढ इति । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण । यदि हि परेण स्यादण्ग्रहणमनर्थकं स्यात् । 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽचः' इत्येव ब्रूयात् । अथ वैतदपि न ब्रूयाद् अचो ह्येतद्भवति—ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति ।

अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः—केऽणः इति । असन्दिग्धं पूर्वेण, न परेण । कुत एतत् । पराभावात् । नहि के परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति—गोका नौकेति । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण । यदि हि परेण स्यादण्ग्रहणमनर्थकं स्यात् । केऽचः इत्येव ब्रूयात् । अथवैतदपि न ब्रूयात् । अचो ह्येतद्भवति—ह्रस्वो दीर्घः प्लुत इति ।

अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः—'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' इति । असन्दिग्धं पूर्वेण, न परेण । कुत एतत् । पराभावात् । नहि पदान्ताः परेऽणः सन्ति । ननु चायमस्ति-कर्तृ हर्तृ इति । एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण ।

(वा०) पर अण् के न होने से ।

ढ्लोप होने पर परले अण् (ऋ से लेकर ल् तक) होते ही नहीं । देखिये (ढलोप होने पर) आतृढ-आवृढ में ऋ रूप पर अण् मिलता है । अच्छा, तो अण् ग्रहण-सामर्थ्य से हम जानते हैं कि यहाँ पूर्व ण् से अण्ग्रहण होता है, पर से नहीं । यदि परले से हो अण्-ग्रहण अनर्थक हो जाय । तब तो 'ढ्लोपे पूर्वस्य दीर्घोऽचः' ऐसा ही कहे । अथवा 'अचः' कहने की आवश्यकता नहीं । ह्रस्व दीर्घ प्लुत अच् को ही तो होते हैं (ये अच् मात्र के धर्म हैं) ।

तो इस अण्-ग्रहण में सन्देह है केऽणः (७।४।१३) इति । निःसन्देह पूर्व ण् से ग्रहण होता है, परले से नहीं । कैसे जानें ? परले अण् के अविद्यमान होने से । 'क' समासान्त परे रहते परले अण् का संभव नहीं है । अजी यह देखिये गोका नौका में 'क' परे रहते ओ-रूप परला अण् मिलता है । अच्छा तो अण्-ग्रहण-सामर्थ्य से पूर्व ण् से अण् लिया जाएगा, पर से नहीं । यदि पर ण् से ग्रहण हो, तो अण् ग्रहण अनर्थक हो जाय । 'केऽचः' ऐसा ही कह दे । अथवा 'अचः' यह भी न कहे, ह्रस्व दीर्घ प्लुत अच् को ही तो होते हैं ।

तो इस अण्ग्रहण में सन्देह है—'अणोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' (८।४।५७) निःसन्देह यहाँ पूर्व ण् से अण् लिया जायेगा, परले से नहीं । कैसे जानें ! परले अण् न होने से । पदान्त परले अण् नहीं मिलते । अजी कर्तृ हर्तृ में पदान्त परला ऋ-रूप अण् मिलता है । अच्छा तो अण्ग्रहण-सामर्थ्य से पूर्व णकार से अण् लिया जायगा,

यदि हि परेण स्याद् अण्ग्रहणमनर्थकं स्यात्। अचोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः इत्येव ब्रूयात्। अथवैतदपि न ब्रूयात्। अच एव हि प्रगृह्या भवन्ति।

अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः—'उरण् रपरः'। असन्दिग्धं पूर्वेण, न परेण। कुत एतत्। पराभावात्। न ह्युः स्थाने परेऽणः सन्ति। ननु चायमस्ति कर्त्रर्थं हर्त्रर्थमिति। किं च स्याद्यत्र रपरत्वं स्यात्। द्वयो रेफयोः श्रवणं प्रसज्येत। 'हलो यमां यमि लोपः' इत्येवमेकस्यात्र लोपो भविष्यतीति। विभाषा स लोपः, विभाषा श्रवणं प्रसज्येत। अयं तर्हि नित्यो लोपः 'रो रि' इति। पदान्तस्येत्येवं सः। न शक्यः स पदान्तस्येत्येवं विज्ञातुम्। इह हि लोपो न स्यात्—जर्गृधेर्लङ् अजर्घाः, पास्पर्द्धेः अपास्पाः इति। इह तर्हि मातॄणां पितॄणामिति रपरत्वं प्रसज्यते। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति-नात्र रपरत्वं भवतीति। यदयम् 'ॠत इद्धातोः' इति धातुग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। धातुग्रहणस्यैतत्प्रयोजनम्—इह मा भूत् मातॄणां पितॄणामिति। यदि चात्र रपरत्वं स्याद्धातुग्रहणमनर्थकं स्यात्। रपरत्वे कृतेऽनन्त्यत्वादित्वं न भविष्यति। पश्यति

परले से नहीं। यदि परले से ग्रहण हो अण्-ग्रहण व्यर्थ हो जाय। 'अचोऽप्रगृह्यस्यानुनासिकः' ऐसा ही कहे। अथवा 'अचः' यह भी न कहे, अच् को ही उद्देश्य कर के प्रगृह्य संज्ञा विधान की गई है।

तो इस अण्ग्रहण में सन्देह है—"उरण् रपरः" (१।१।५१)। निःसन्देह पूर्व णकार से अण् लिया जायगा। परले से नहीं। यह क्योंकर? परले अण् के न होने से (ॠ के स्थान में परले अण् मिलते ही नहीं)। अजी कर्त्रर्थम् हर्त्रर्थम् में ऐसा ररूप अण् मिलता है। क्या हानि हो यदि यहाँ रपर हो जाय। दो रेफ सुनाई देंगे। (नहीं) 'हलो यमां यमि लोपः' इस से एक का लोप हो जायगा। वह लोप विभाषा है (नित्य नहीं), अतः पक्ष में (दो रेफों का) श्रवण प्रसक्त होगा। अच्छा ('हलो यमां यमि–' से लोप नहीं करगे किन्तु) "रो रि" (८।३।१४) जो नित्य विधि है, उस से लोप करेंगे। पर 'रो रि' तो पदान्त रेफ का लोप विधान करता है। नहीं, ऐसा नहीं माना जा सकता। गृध् धातु के यङ्लुक् के लङ् लकार में और स्पर्ध् धातु के यङ्लुक् के लङ् में अजर्घा अपास्पाः—ये रूप न बन सकेंगे। अच्छा तो मातॄणाम्, पितॄणाम्—यहाँ रपर हो जायगा। (नहीं होगा) आचार्य की प्रवृत्ति (व्यवहार) बतलाती है कि यहाँ रपरत्व नहीं होता। कारण कि आचार्य 'ॠत इद्धातोः' (७।१।१००) इस सूत्र में धातु ग्रहण करते हैं। कैसे ज्ञापक हुआ? धातु ग्रहण का यही प्रयोजन है कि मातॄणां पितॄणाम् में रपरत्व न हो। यदि यहाँ भी रपरत्व हो जाय, धातुग्रहण व्यर्थ हो जाय। कारण कि रपरत्व होने पर (मातॄ) ॠ अन्त्य न रहा, तो इत्व प्राप्त ही न हो। आचार्य

त्वाचार्यो नात्र रपरत्वं भवतीति, ततो धातुग्रहणं करोति। इहापि तर्हि न प्राप्नोति चिकीर्षति जिहीर्षतीति। मा भूदेवम्। 'उपधायाश्च' इत्येवं भविष्यति। इहापि तर्हि प्राप्नोति मातॄणां पितॄणामिति। तस्मात्तत्र धातुग्रहणं कर्तव्यम्। एवं तर्हि सामर्थ्यात्पूर्वेण, न परेण। यदि परेण स्यादण्ग्रहणमनर्थकं स्यात्, उरत्रपर इत्येव ब्रूयात्।

अस्मिंस्तर्ह्यण्ग्रहणे सन्देहः—अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः इति। असन्दिग्धं परेण, न पूर्वेण। कुत एतत्।

सवर्णेऽण् तु परं ह्युॠत्।

यदयम् उॠत् इत्यृकारे तपरकरणं करोति। 'तज्ज्ञापयत्याचार्यः परेण, न पूर्वेणेति।

इण्ग्रहणेषु तर्हि सन्देहः। असन्दिग्धं परेण, न पूर्वेण। कुत एतत्।

जानते हैं कि यहाँ (अधातु के अवयव ऋकार को दीर्घ करते समय) रपरत्व नहीं होता, अतः धातु ग्रहण करते हैं। तो यहाँ भी—कृ, हृ से सन् प्रत्यय परे रहते ऋ को दीर्घ रपर ॠ होने पर इत्व की प्राप्ति न रहेगी। ॠत इद्धातोः से इत्व न हो, "उपधायाश्च" (७।१।१०१) इस सूत्र से इत्व हो जायगा। तो इसी सूत्र से मातॄणाम् पितॄणाम् में (रपर दीर्घ होने पर) भी उपधा को इत्व होने लगेगा। इसलिये ॠत इद्धातोः में धातु ग्रहण सप्रयोजन होने से करना ही होगा (सो यह ज्ञापक न हुआ)। इसलिये प्रकृत अण् ग्रहण पूर्व ण् से होगा, परले ण् से नहीं। यदि परले ण् से हो तो अण् ग्रहण व्यर्थ हो जाय, उरत् रपरः ऐसा ही पढ़ देते।

अच्छा तो इस अण् ग्रहण में सन्देह है—अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः (१।१।६६) निःसन्देह परले ण् से अण् लिया जायगा, पूर्व से नहीं। यह कैसे?

(वा०) 'अणुदित्सवर्णस्य—'सूत्र में अण् परले णकार से लिया जाता है पूर्व से नहीं इसमें 'उॠत्' इस सूत्र में जो तपर किया है वह ज्ञापक है।

आचार्य जो उॠत् (७।४।७) ॠ के स्थान में ऋ का विधान करते हुए उसे तपर करते हैं इससे ज्ञापित करते हैं कि अण् प्रत्याहार परले णकार से लिया जाता है, पहले से नहीं।

तो इण् ग्रहण में सन्देह है। निःसन्देह इण् परले णकार से लिया जाता है, पूर्व से नहीं। यह कैसे?

---

१. उॠत् (७।४।७) इस सूत्र में 'तपर' इस लिये किया है कि 'अचीकृतत्' में ऋकार के स्थान में ऋ कार ही हो दीर्घ ॠकार न हो। यदि पूर्व णकार से अण् ग्रहण हो तो ऋकार अण् नहीं, अतः भिन्न काल ('ॠ') का ग्राहक नहीं होगा।

य्वोरन्यत्र परेणैण् स्यात् ।

यत्रेच्छति पूर्वेण, संमृद्य ग्रहणं तत्र करोति—य्वोरिति । तच्च गुरु भवति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । तत्र विभक्तिनिर्देशे संमृद्य ग्रहणे चार्द्धचतस्रो मात्राः । प्रत्याहारग्रहणे पुनस्तिस्रो मात्राः । सोऽयमेवं लघीयसा न्यासेन सिद्धे सति यद् गरीयांसं यत्नमारभते तज्ज्ञापयत्याचार्यः परेण, न पूर्वेणेति ।

किं पुनर्वर्णोत्सत्ताविवायं णकारो द्विरनुबध्यते ।

व्याख्यानाच्च द्विरुक्तितः ।

एतज्ज्ञापयत्याचार्यो भवत्येषा परिभाषा—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् इति । अणुदित्सवर्णस्य इत्येतत्परिहाय पूर्वेणाण्ग्रहणम्, परेणैण् ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः ।

(वा०) इ का संमर्दन (यणादेश से निवृत्ति) करके जहाँ इकार उकार का ग्रहण किया है जैसे 'अचि श्नुधातुभ्रुवां य्वोः' (६।४।७७) सूत्र में, उसे छोड़कर अन्यत्र सब स्थलों में इण् प्रत्याहार परले णकार से लिया जाता है ।

जहाँ आचार्य चाहते हैं कि पूर्व णकार से इण् प्रत्याहार लिया जाय वहाँ वे इण् का ग्रहण न करके 'इ' को यणादेश करके 'य्वोः' ऐसा निर्देश करते हैं ।) यह निर्देश गुरु होता है । यह ज्ञापक कैसे होता है ? यणादेश करके विभक्ति सहित 'य्वोः' ऐसा उच्चारण करने पर ३½ मात्रायें होती हैं । प्रत्याहार (विभक्ति सहित) 'इणः' उच्चारण में ३ मात्रायें होती हैं । आचार्य जो लघु न्यास (मात्रा-त्रयात्मक) से कार्य सिद्ध होने पर गुरुतर न्यास (३½ मात्रात्मक) करते हैं इससे यह जतलाते हैं कि इण् प्रत्याहार परले णकार से लिया जाता है पूर्व से नहीं ।

प्रत्याहार सूत्रों में यह ण् क्यों दो बार लगाया गया है ? क्या दूसरा वर्ण लगाने को नहीं रहा था ?

(वा०) णकार का दो बार उच्चारण होने से (परम्परा प्राप्त) व्याख्यान से शब्द (अण्, इण्) शक्ति का निश्चय होगा ।

ण् रूप अनुबन्ध दो बार लगाने से आचार्य यह ज्ञापन करना चाहते हैं कि यह परिभाषा होती है—व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्नहि सन्देहादलक्षणम् अर्थात् (सन्देह होने पर) व्याख्यान से एककोटिक निश्चयात्मक ज्ञान हो जाता है, सन्देह मात्र से लक्षण (=शास्त्र) अलक्षण (अननुष्ठापक) नहीं हो जाता । हम ऐसा व्याख्यान करेंगे कि 'अणुदित्सवर्णस्य चाप्रत्ययः' इस एक को

'तपर' होने से ऋकार के न तो स्थानी होने का कोई प्रसङ्ग है, न आदेश । चूंकि तपर (ऋत्) किया है, अतः यह ज्ञापक हुआ कि अण् परले णकार से लिया जाता है।

ञमङणनम् ॥७॥ झभञ् ॥८॥

किमर्थमिमौ मुखनासिकावचनावुभावनुबध्येते, न ञकार एवानुबध्येत। कथं यानि मकारेण ग्रहणानि। सन्तु ञकारेण। कथं—'हलो यमां यमि लोपः' इति। अस्तु ञकारेण। हलो यञां यञि लोपः इति। नैवं शक्यम्। झकारभकारपरयोरपि झकारभकारयोर्लोपः प्रसज्येत। न झकारभकारौ झकारभकारयोः स्तः। कथं—पुमः खय्यम्परे इति। एतदप्यस्तु ञकारेण 'पुमः खय्यञ्परे' इति। नैवं शक्यम्। झकारभकारपरेऽपि हि खयि रुः प्रसज्येत। न झकारभकारपरः खयस्ति। कथं—'ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्' इति। एतदप्यस्तु ञकारेण 'ङञो ह्रस्वादचि ङञुण्नित्यम्' इति। नैवं शक्यम्। झकारभकारयोरपि हि पदान्तयोर्झकारभकारावागमौ स्याताम्। न झकारभकारौ पदान्तौ[1] स्तः। एवमपि पञ्चागमास्त्रय आगमिनो

छोड़कर अण् प्रत्याहार पूर्व णकार से लिया जाता है और इण् परले णकार से ही।

ञमङणनम् ॥ ७ ॥ झभञ् ॥ ८ ॥

क्या कारण है कि यहाँ दो अनुनासिक म्, ञ् अनुबन्ध रूप से पढ़े हैं? क्या एक ही ञकार अनुबन्ध से काम न चलेगा? जिन प्रत्याहारों में मकार अनुबन्ध है वहाँ कैसे होगा? वहाँ भी मकार के स्थान में ञकार अनुबन्ध रहे। उदाहरण—'हलो यमां यमि लोपः' यहाँ मकार प्रत्याहार-सम्पादक अनुबन्ध है, अब इस के हट जाने से शास्त्र कैसे प्रवृत्त होगा? ञकार अनुबन्ध लगा देंगे और हलो यञां यञि लोपः ऐसे पढ़ेंगे। ऐसा नहीं हो सकता। झ भ परे रहते भी पूर्व झ भ का लोप होने लगेगा। (नहीं यह कोई दोष नहीं) झ भ परक झ भ हैं ही नहीं। अच्छा "पुमः खय्यम्परे" (८।३।६) यहाँ मकारानुबन्ध से 'अम्' प्रत्याहार पढ़ा है, यहाँ कैसे इष्ट कार्य होगा? यहाँ भी 'म्' के स्थान में 'ञ्' अनुबन्ध लगा देंगे। और सूत्र को 'पुमः खय्यञ्परे' ऐसे पढ़ेंगे। ऐसा नहीं होसकता। झकारभकार-परक खय् होने पर भी पूर्व 'पुम्स्' के 'स्' को 'रु' होने लगेगा। (यह कोई दोष नहीं)। झकारभकार-परक खय् मिलता ही नहीं। अच्छा तो "ङमो ह्रस्वादचि ङमुण्नित्यम्" (८।३।३२) यहाँ कैसे होगा?। इसे भी ञकार अनुबन्ध से पढ़ देंगे और सूत्र का रूप होगा—'ङञोह्रस्वादचि ङञुण् नित्यम्'। ऐसा नहीं हो सकता। पदान्त झकारभकार को क्रम से झकार भकार आगम होने लगेंगे। (यह कोई दोष नहीं) पदान्त झकार भकार मिलते ही नहीं। ऐसी अवस्था में भी (लक्ष्यसंस्कार वेला में) आगम पांच (ङ म ण झ भ)

१- झ भ को पदान्त में जश् हो जाने से तदभाव प्रसिद्ध ही है। रहा उज्झ् का झ, उसका "संयोगान्तस्य लोपः" ( ) से लोप हो जाता है।

वैषम्यात्सङ्ख्यातानुदेशो न प्राप्नोति। सन्तु तावद्येषामागमानामागमिनः सन्ति। झकारभकारौ पदान्तौ न स्त इति कृत्वाऽऽगमावपि न भविष्यतः।

अथ किमिदमक्षरमिति[1]।

अक्षरं नक्षरं[2] विद्यात्।

न क्षीयते न क्षरतीति वाऽक्षरम्।

अश्नोतेर्वा सरोऽक्षरम्[3]।

अश्नोतेर्वा पुनरयमौणादिकः सरन्प्रत्ययः। अश्नुत इत्यक्षरम्।

वर्णं वाहुः पूर्वं सूत्रे

अथवा पूर्वसूत्रे वर्णस्याक्षरमिति संज्ञा क्रियते।

किमर्थमुपदिश्यते

होंगे और आगमी केवल तीन (ङ म ण), सो सङ्ख्या-विषमता के कारण सङ्ख्यातानुदेश न होगा। (अर्थात् तीन आगमियों में प्रत्येक को पञ्च आगम होंगे। यह कोई दोष नहीं)। जिन आगमों के आगमी हैं उन्हें वे हो जायं, झकार भकार पदान्त हैं ही नहीं उनके आगम भी नहीं होंगे।

अब यह विचार प्रस्तुत होता है कि 'अक्षर' किसे कहते हैं ?

(वा०) अक्षर को 'नक्षर' समझे। अथवा जो क्षीण नहीं होता अथवा जो अपने स्वरूप से प्रच्युत नहीं होता उसे अक्षर कहते हैं।

अशू ङ् (व्याप्त्यर्थक) से औणादिक सरन् प्रत्यय किया गया है, जो व्याप्त होता है।

पूर्व सूत्र (पूर्वाचार्यों के व्याकरण) में वर्ण की 'अक्षर' संज्ञा की गई है।

वा० अक्षर (वर्णों) का किस लिये उपदेश किया है !

---

१. भाष्य में 'अक्षर समाम्नाय' इस शब्द का व्यवहार हुआ है, यो वा इमां स्वरशोऽक्षरशः इत्यादि प्रयोजन-परक भाष्य में अक्षर शब्द का, अतः तदर्थबोध के लिये प्रकृत प्रश्न है।

२. अक्षर यह क्रियाशब्द है, चाहे क्षि क्षये से व्युत्पन्न माना जाय चाहे क्षर संचलने से। परमार्थ रूप में ब्रह्मतत्त्व ही अक्षर (अविनाशी) है। वर्णपदवाक्य-रूप स्फोट अथवा जाति स्फोट की तो व्यावहारिकी नित्यता है। सभी शब्दों का आकाशादि की तरह सृष्टि के आदि में उत्पत्ति और प्रलय में विनाश होता है।

३. अशूङ् व्याप्तौ—इस धातु से औणादिक सरन् प्रत्यय से अक्षर शब्द निष्पन्न होता है। अथ मश्नुते व्याप्नोतीत्यक्षरम्।

अथ किमर्थमुपदेशः क्रियते ।

वर्णज्ञानं वाग्विषयो यत्र च ब्रह्म वर्तते ।
तदर्थमिष्टबुद्ध्यर्थं लघ्वर्थं चोपदिश्यते ॥

सोऽयमक्षरसमाम्नायो वाक्समाम्नायः पुष्पितः फलितश्चन्द्रतारकवत्प्रतिमण्डितो वेदितव्यो ब्रह्मराशिः, सर्ववेदपुण्यफलावाप्तिश्चास्य ज्ञाने भवति, मातापितरौ चास्य स्वर्गे लोके महीयेते ॥

इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये
प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे
द्वितीयमाह्निकम् ॥

(उत्तर) वा०—यह अक्षर समाम्नाय जिससे वर्ण जाने जाते हैं (जो वर्णों का ज्ञापक है), जो वाणी का बन्धन (प्रतिपादक) है, जिसमें ब्रह्म (= वेद) स्थित है उस शास्त्र[1] की प्रवृत्ति के लिये, (इष्टबुद्ध्यर्थ) कलादिदोष रहित वर्णज्ञान के लिये, (लघ्वर्थ) अनुबन्धकरण के लिये उपदेश किया गया है ।

सो यह अक्षर-समाम्नाय (वाक्समाम्नाय) वाणी के सङ्ग्रह का उपाय है । इस पुण्य (दृष्टफल) युक्त, फल (अदृष्ट फल) युक, चन्द्र और तारों की तरह स्वलंकृत ब्रह्मतत्त्व ही शब्दरूपतया भासमान समझना चाहिये । इसके परिज्ञान से सर्ववेदाध्ययन-लभ्य पुण्य-फल की प्राप्ति होती है, इसके ज्ञाता के माता पिता (भी) स्वर्गलोक में सम्मान के पात्र होते हैं ॥

---

१. चतुर्दशसूत्री-रूप (माहेश्वर सूत्र नाम से प्रसिद्ध) और तन्मूलक भगवत्पाणिनिकृत अष्टाध्यायी शास्त्र ।

अथ तृतीयमाह्निकम् ।

वृद्धिरादैच् ॥ (१।१।१) ॥

कुत्वं कस्मान्न भवति चोः कुः पदस्य इति । भत्वात् । कथं भसंज्ञा । अयस्मयादीनि च्छन्दसि इति । छन्दसीत्युच्यते, न चेदं छन्दः । छन्दोवत्सूत्राणि भवन्ति । यदि भसंज्ञा, "वृद्धिरादैजदेङ् गुणः" इति जश्त्वमपि न प्राप्नोति । उभयसंज्ञान्यपि छन्दांसि दृश्यन्ते । तद्यथा 'स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन' पदत्वात्कुत्वम् । भत्वाज्जश्त्वं न भवति । एवमिहापि पदत्वाज्जश्त्वं भत्वात्कुत्वं न भविष्यति ।

किं पुनरिदं तद्भा¹वितग्रहणम्—वृद्धिरित्येवं ये आकारैकारौकारा

वृद्धिरादैच् (१।१।१) इस सूत्र में पदान्त 'च्' को "चोः कुः" (८।२।३०) सूत्र से कवर्गादेश क्यों नहीं हुआ ?

भसंज्ञा होने से ।

भसंज्ञा कैसे (हुई) ?

अयस्मयादीनि च्छन्दसि (१।४।२०) इस सूत्र से ।

पर यहाँ तो 'छन्दोविषय में' यह भसंज्ञा-विधि है ऐसा कहा है, और यह (प्रकृतसूत्र) छन्द (वेद) नहीं है ।

सूत्रों में भी छन्द जैसा कार्य होता है ।

यदि भसंज्ञा मानकर (कुत्व का वारण करते हो) तो वृद्धिरादैजदेङ् गुणः ऐसा संहितापाठ में जश्त्व (चकार के स्थान में ज्) भी न हो सकेगा ।

छन्दों में एक-साथ दोनों संज्ञायें देखी जाती हैं । जैसे—स सुष्टुभा स ऋक्वता गणेन—यहाँ 'ऋक्वता' में पदसंज्ञा होने से ऋच् के 'च्' को कुत्व हो गया, पर साथ ही भसंज्ञा होने से जश्त्व (क् को ग्) न हुआ । इसी प्रकार यहाँ भी (सूत्र में भी) पदसंज्ञा मानकर जश्त्व हो गया, पर भसंज्ञा मानकर कुत्व न होगा ।

अब यह विचार है कि सूत्रमें तद्भावितों का ग्रहण है अर्थात् वृद्धि शब्द उच्चारण कर के जो आकार, ऐकार, औकार भावित (विहित, उत्पादित) होते हैं

---

१. सूत्र में आदैच् मात्र का ही ग्रहण प्रतीत होता है, अतः यह प्रश्न अनुपपन्न है । नहीं । शास्त्र में पक्षद्वय के देखे जाने से प्रश्न युक्त ही है । लुगादि संज्ञाओं में

भाव्यन्ते,तेषां ग्रहणम्, आहोस्विदादैज्मात्रस्य। किं चातः। यदि तद्भावितग्रहणं शालीयो मालीय इति वृद्धलक्षणश्छो न प्राप्नोति। आम्रमयम्, शालमयम्, वृद्धिलक्षणो मयण्न प्राप्नोति। आम्रगुप्तायनिः, शालगुप्तायनिः, वृद्धलक्षणः फिञ् न प्राप्नोति।

अथादैज्मात्रस्य ग्रहणम्, सर्वो भासः सर्वभास इति उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च इत्येष विधिः प्राप्नोति। इह च तावती भार्या यस्य तावद्भार्यः, यावद्भार्यः "वृद्धिनिमित्तस्य–" इति पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोति। अस्तु तर्हि–आदैज्मात्रस्य ग्रहणम्। ननु चोक्तम्--सर्वो भासः सर्वभासः इत्यु "त्तरपदवृद्धौ सर्वं च" इत्येष विधिः प्राप्नोतीति। नैष दोषः। नैवं विज्ञायते–उत्तर-पदस्य वृद्धिरुत्तर-

उन का ग्रहण है, अथवा जो भी कोई आकार, ऐकार, औकार हों उन सबका? इससे क्या?

यदि तद्भावितों का ग्रहण है तो शालीयः, मालीयः—यहाँ 'वृद्धाच्छः' (४।२।११४) इस सूत्र से छप्रत्यय की प्राप्ति हो नहीं। आम्रगुप्तायनिः, शालगुप्तायनिः, यहाँ 'उदीचां वृद्धादगोत्रात्' (४।१।१५७) से (अपत्यार्थ में) फिञ् न हो सकेगा। (आम्रगुप्तस्यापत्यम् आम्रगुप्तायनिः)

यदि कहो कि यहाँ आकार, ऐकार, औकार मात्र (तद्भावित हों अथवा अतद्भावित) का ग्रहण है, तो सर्वो भासः सर्वभासः यहाँ (कर्मधारय तत्पुरुष समास में) उत्तरपद में वृद्धिसंज्ञक आकार होने से उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च (६।२।१०५) से सर्वशब्द अन्तोदात्त हो जायगा। और तावती भार्या यस्य तावद्भार्यः, यावद्भार्यः,—यहाँ वृद्धिनिमित्तस्य च तद्धितस्यारक्तविकारे (६।३।३९) से [आ सर्वनाम्नः (६।३।९१) से आये आकार की भी वृद्धिसंज्ञा होने से और उसके सत्त्व में तद्धित प्रत्यय वतुप् की निमित्तता से] पुंवद्भाव निषेध प्राप्त होता है।

अच्छा (यदि तद्भावित पक्ष में दिये हुये दूषणों का उद्धार नहीं हो सकता) तो आकार, ऐकार औकार मात्र का ग्रहण सही, (इसमें क्या हानि है?)।

अजी अभी कहा गया है कि कर्मधारय तत्पुरुष सर्वभासः में "उत्तरपदवृद्धौ सर्वं च" (६।२।१०५) से सर्व शब्द अन्तोदात्त हो जायगा।

यह कोई दोष नहीं। 'उत्तरपदवृद्धौ' इस पद का 'उत्तरपद की वृद्धि होने

'तद्भावित' पक्ष का ही ग्रहण है और लोप संज्ञा में अदर्शन मात्र का ग्रहण है। सूत्र में वृद्धि तन्त्रेणोच्चारित है ऐसा मानकर, इसकी आवृत्ति स्वीकार कर अथवा एक शेष अङ्गीकार कर तद्भावित आदैच् का ग्रहण होता है। उस अवस्था में एक वृद्धि शब्द संज्ञावान् आदैच् का विशेषण रहेगा और दूसरा संज्ञापरक।

पदवृद्धिरुत्तरपद वृद्धाविति। कथं तर्हि। "उत्तरपदस्य" इत्येवं प्रकृत्य या वृद्धिस्तद्वत्युत्तरपदे, इत्येवमेतद्विज्ञायते। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्। तद्भावितग्रहणे सत्यपीह प्रसज्येत—सर्वः कारकः सर्वकारक इति।

यदप्युच्यते—इह तावती भार्या यस्य तावद्भार्यः, यावद्भार्य इति च "वृद्धिनिमित्तस्य—"इति पुंवद्भावप्रतिषेधः प्राप्नोतीति। नैष दोषः। नैवं विज्ञायते—वृद्धेर्निमित्तं वृद्धिनिमित्तं वृद्धिनिमित्तस्येति। कथं तर्हि। वृद्धेर्निमित्तं यस्मिन्सोयं वृद्धिनिमित्तः[1], वृद्धिनिमित्तस्येति। किं च वृद्धेर्निमित्तम्। योऽसौ ककारो ञकारो णकारो वा। अथवा यः [2]कृत्स्नाया वृद्धेर्निमित्तम्। कश्च कृत्स्नाया वृद्धेर्निमित्तम्। यस्त्रयाणामाकारैकारौकाराणाम्।

संज्ञाधिकारः संज्ञासम्प्रत्ययार्थः॥

"अथ संज्ञा" इत्येवं प्रकृत्य वृद्ध्यादयः शब्दाः पठितव्याः। किं

पर' ऐसा अर्थ नहीं समझना चाहिये किन्तु 'उत्तरपदस्य' (७।३।१०) इस अधिकार में जो वृद्धि विधान की गई हो तद्युक्त उत्तरपद परे होने पर, ऐसा अर्थ है। और अवश्य ऐसा ही अर्थ मानना होगा। कारण कि तद्भावित 'आ' के ग्रहण करने पर भी 'सर्वकारकः' इस तत्पुरुष समास में भी (जहाँ 'कारक' में कृ के ऋ को अचोञ्णिति से वृद्धि होकर 'आ' हुआ है) उक्त सूत्र से सर्व शब्द अन्तोदात्त हो जायगा।

और जो यह कहा है कि तावद्भार्यः, यावद्भार्यः में (तद्भावित ग्रहण न करने पर) "वृद्धिनिमित्तस्य—" इस सूत्र से पुंवद्भाव का प्रतिषेध प्राप्त होता है, सो यह भी कोई दोष नहीं। 'वृद्धिनिमित्तस्य' इस पद का 'वृद्धिका निमित्त, उसका' ऐसा अर्थ नहीं, किन्तु 'वृद्धि का निमित्त जिसमें है, उसका' ऐसा अर्थ है।

फिर वृद्धि का निमित्त है क्या?

जो (इत्संज्ञक) प्रसिद्ध क्, ञ्, ण्, । अथवा जो सकल वृद्धि का निमित्त हो।

सकल वृद्धि का कौन सा निमित्त है?

जो तीनों अर्थात् आकार, ऐकार, औकार का निमित्त हो।

(वा०) संज्ञा का अधिकार करना चाहिये संज्ञा के बोध के लिए। 'अथ संज्ञा' अब संज्ञा–विधान का प्रारम्भ होता है—ऐसा कह कर वृद्धि आदि संज्ञा शब्दों

---

१. निमित्त शब्द के उपादान से ही यहाँ व्यधिकरण बहुव्रीहि लिया जाता है, अन्यथा 'वृद्धेस्तद्धितस्य' ऐसा ही कहे, वृद्धि का निमित्त होने से तद्धित को 'वृद्धि' कह दिया जायगा।

२. अथवा वृद्धीनां निमित्तम्—ऐसा विग्रह समझना चाहिये। व्यधिकरण बहुव्रीहि की अपेक्षा तत्पुरुष मानने में लाघव भी है।

प्रयोजनम्। संज्ञासम्प्रत्ययार्थः। वृद्ध्यादीनां शब्दानां संज्ञा इत्येष सम्प्रत्ययो यथा स्यात्।

इतरथा ह्यसम्प्रत्ययो यथा लोके ॥

अक्रियमाणे हि संज्ञाधिकारे वृद्ध्यादीनां संज्ञेत्येष सम्प्रत्ययो न स्यात्। इदमिदानीं बहुसूत्रमनर्थकं स्यात्। अनर्थकमित्याह। कथम्। यथा लोके। लोके ह्यर्थवन्ति चानर्थकानि च वाक्यानि दृश्यन्ते। अर्थवन्ति तावत्—देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन, देवदत्त गामभ्याज कृष्णाम् इति। अनर्थकानि—दश दाडिमानि षडपूपाः कुण्डमजाजिनं पलालपिण्डः अधरोरुकमेतत्कुमार्याः स्फैयकृतस्य पिता प्रतिशीन इति।

संज्ञासंज्ञ्यसन्देहश्च ॥

क्रियमाणेऽपि संज्ञाधिकारे संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो वक्तव्यः। कुतो ह्येतत्—वृद्धिशब्दः संज्ञा, आदैचः संज्ञिन इति। न पुनरादैचः संज्ञा, वृद्धि शब्दः संज्ञीति।

को पढ़ना चाहिये।

क्या प्रयोजन है?

संज्ञाओं के बोध के लिये। वृद्धि आदि शब्दों के विषय में ये संज्ञायें हैं ऐसा बोध हो सके, इस लिये।

(वा०) नहीं तो ऐसा बोध न हो सकेगा जैसे लोक में।

यदि संज्ञाधिकार न किया जाय तो वृद्धि आदि शब्द संज्ञायें हैं ऐसा बोध न होगा। ऐसा होने पर बहुत से सूत्र अनर्थक हो जायंगे। यह जो आप 'अनर्थक' कहते हैं सो कैसे? जैसे लोक में। लोक में दोनों प्रकार के वाक्य देखे जाते हैं—सार्थक और अनर्थक। पहले सार्थकों को लीजिये—देवदत्त गामभ्याज शुक्लां दण्डेन (देवदत्त सफेद गौ को डंडे से हांको), देवदत्त गामभ्याज कृष्णाम् (देवदत्त काली गौ को हाँको)। अनर्थक जैसे—दस दाडिम (दाड़ू), छः अपूप (पूए), कुण्ड, बकरी का चाम, फल-शून्य काण्डों का समूह, कुमारी का यह लहंगा, स्फ्यकृत् का पिता प्रतिश्याय युक्त है।

(वा०) संज्ञा और संज्ञी का असन्दिग्धरूप से निर्देश होना चाहिये।

संज्ञा अधिकार के किये जाने पर भी यह संज्ञा है यह संज्ञी है इसका विस्पष्ट रूप से कथन होना चाहिये। क्या कारण है कि वृद्धि शब्द संज्ञा हो और आदैच् संज्ञी हों? आदैच् संज्ञा और वृद्धि शब्द संज्ञी क्यों न हो?

यत्तावदुच्यते—संज्ञाधिकारः कर्तव्यः संज्ञासम्प्रत्ययार्थ इति, न कर्तव्यः।

आचार्याचारात्संज्ञासिद्धिः ॥

आचार्याचारात्संज्ञासिद्धिर्भविष्यति । किमिदमाचार्याचारादिति। आचार्याणामुपचारात् ।

यथा लौकिकवैदिकेषु ॥

तद्यथा लौकिकेषु वैदिकेषु च कृतान्तेषु। लोके तावत् मातापितरौ पुत्रस्य जातस्य संवृतेऽवाकाशे नाम कुर्वाते देवदत्तो यज्ञदत्त इति। तयोरुपचारादन्येपि जानन्ति इयमस्य संज्ञेति। वेदे याज्ञिकाः संज्ञां कुर्वन्ति—स्फ्यो यूपश्चषाल इति। तत्र भवतामुपचारादन्येऽपि जानन्ति इयमस्य संज्ञेति। एवमिहापि—इहैव तावत्केचिद् व्याचक्षाणा आहुः-वृद्धिशब्दः संज्ञा, आदैचः संज्ञिन इति। अपरे पुनः 'सिचि वृद्धिः' इत्युक्त्वाऽऽकारैकारौकारानुदाहरन्ति। तेन मन्यामहे यया प्रत्याय्यन्ते सा संज्ञा, ये प्रतीयन्ते ते संज्ञिन इति।

यदप्युच्यते—क्रियमाणेपि संज्ञाधिकारे संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहो

यह जो कहा गया है कि संज्ञाधिकार करना चाहिये संज्ञाओं के बोध के लिये। इसके करने की कोई आवश्यकता नहीं।

(वा०) आचार्यों के व्यवहार से संज्ञा की सिद्धि हो जायगी। आचार्यों के आचार से संज्ञा-सिद्धि हो जायगी।

आचार्याचार से क्या अभिप्राय है?

आचार्यों (वृत्तिकारों) का व्यवहार।

(वा०) जैसे लौकिक व वैदिक व्यवहारों में।

जैसे लौकिक तथा वैदिक व्यवहारों में (संज्ञा जानी जाती है)। लोक में देखते हैं कि माता पिता नवजात पुत्र का गुह्य स्थान (घर के भीतर) में देवदत्त, यज्ञदत्त इत्यादि नाम धरते हैं उन के व्यवहार से दूसरे लोग भी जानते हैं कि यह उस बालक की संज्ञा है। वेद में याज्ञिक (यज्ञकाण्डके द्रष्टा ऋषि) यज्ञोपकरणों के स्फ्य[1], यूप[2], चषाल[3] इत्यादि नाम धरते हैं। उन पूज्यों के व्यवहार से दूसरे भी जानते हैं कि यह उस-उस पदार्थ की संज्ञा है। इस से हम जानते हैं कि जिस शब्द से पदार्थों का प्रत्यायन किया जाता है वह संज्ञा है, जो प्रतीत होते हैं वे संज्ञी हैं।

जो यह कहा गया है कि संज्ञाधिकार करनेपर भी संज्ञा और संज्ञी का असन्दिग्ध

---

१. खैर का बना हुआ खड्ग सदृश यज्ञसाधन।

२. छील तराश कर बनाया हुआ यज्ञियपशुबन्धन-काष्ठ।

३. यूप के अग्र भाग में स्थापित यूप-वलय-नामक काष्ठ।

वक्तव्य इति ।

संज्ञासंज्ञ्यसन्देहश्च ॥

संज्ञासंज्ञिनोरसन्देहः सिद्धः । कुतः । आचार्याचारादेव । उक्त आचार्याचारः ।

अनाकृतिः ॥

अथवाऽनाकृतिः संज्ञा, आकृतिमन्तः संज्ञिनः । लोकेऽपि ह्याकृतिमतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते ।

लिङ्गेन वा ॥

अथवा किञ्चिल्लिङ्गमासज्य वक्ष्यामि इत्थंलिङ्गा संज्ञेति । वृद्धिशब्दे च तल्लिङ्गं करिष्यते, नादैच्छब्दे ।

इदं तावदयुक्तं यदुच्यते—आचार्याचारादिति । किमत्रायुक्तम् । तमेवो-पालभ्य अगमकं ते सूत्रम् इति, तस्यैव पुनः प्रमाणीकरणमित्येतदयुक्तम् ।

रूप से निर्देश करना चाहिये ।

(वा०) संज्ञा और संज्ञीका असन्देह[1] (विवेक) सिद्ध ही है । कैसे ? अचार्यों के आचार से । आचार्यों का आचार क्या चीज है यह पहले बता चुके हैं ।

(वा०) अनाकृति (आकृतिरहित) ।

अथवा आकृति-रहित शब्द संज्ञा है और आकृति वाले शब्द संज्ञी हैं । लोक में भी आकृति वाले मांसपिण्ड की 'देवदत्त' यह संज्ञा की जाती है ।

(वा०) अथवा लिङ्ग (चिन्ह) से ।

अथवा कुछ चिह्न लगा कर कहूँगा इस प्रकार के चिन्ह वाला संज्ञा शब्द है । 'वृद्धि' शब्द में वह कलआदि दोष रूप चिन्ह कर दिया जायगा । आदैच् शब्द में नहीं किया जायगा ।

आप का यह कहना कि आचार्य (सूत्रकार) के व्यवहार से (संज्ञा का पता चल जायगा) युक्त नहीं ।

इसमें क्या अयुक्त है ?

यही कि पहले (हे सूत्रकार) तेरा सूत्र (सम्बन्ध का ज्ञापक न होने से) अबोधक (अनर्थक) है, इस प्रकार निन्दावचन कहकर पीछे उसी को (अर्थात् उसी

---

१. (वार्तिकमें) असन्देहः—यह बहुव्रीहि है, अविद्यमानः सन्देहोऽत्र ।

सन्देह का निवर्तक शब्द कहना चाहिये, अर्थात् "परा संज्ञा" ऐसा वचन पढ़ना चाहिये ।

अपरितुष्यन् खल्वपि भवाननेन परिहारेण 'अनाकृतिर्लिङ्गेन वा' इत्याह ।

तच्चापि वक्तव्यम् । यद्यप्येतदुच्यते । अथवैतर्हि इत्संज्ञा न वक्तव्या । लोपश्च न वक्तव्यः । संज्ञालिङ्गमनुबन्धेषु करिष्यते । न च संज्ञाया निवृत्तिरुच्यते । स्वभावतः संज्ञा संज्ञिनं प्रत्याय्य स्वयं निवर्तते । तेनानुबन्धानामपि निवृत्तिर्भविष्यति । सिध्यत्येवम् । अपाणिनीयं तु भवति ।

यथान्यासमेवास्तु । ननु चोक्तम्--संज्ञाधिकारः संज्ञासम्प्रत्ययार्थ इतरथा ह्यसम्प्रत्ययो यथा लोके इति । न च यथा लोके तथा व्याकरणे । प्रमाणभूत[1] आचार्यो दर्भपवित्रपाणिः शुचाववकाशे प्राङ्मुख उपविश्य महता प्रयत्नेन सूत्राणि प्रणयति स्म तत्राशक्यं वर्णेनाप्यनर्थकेन भवितुम्, किं पुनरियता सूत्रेण । किमतो यदशक्यम् । अतः संज्ञासंज्ञिनावेव । कुतो नु खल्वेतत् संज्ञासंज्ञिनावेवेति । न पुनः साध्वनुशासनेऽस्मिञ्शास्त्रे साधुत्वमनेन क्रियते ।

के वृत्तिकारों को) प्रमाण मानना । और आपने भी इस समाधान से असन्तुष्ट होकर ही अनाकृतिर्लिङ्गेन वा--यह दूसरा समाधान कहा है ।

तो लिङ्ग लगाना होगा । (इस प्रकार के लिङ्ग वाला शब्द संज्ञा है ऐसा कहना होगा) । यद्यपि ऐसा वचन करने से (गौरव होगा तो भी अपेक्षाकृत लाघव ही होगा) कारण कि अब (अनुबन्धों की) इत्संज्ञा नहीं कहनी पड़ेगी, इत्संज्ञकों का लोप भी नहीं कहना पड़ेगा । संज्ञा का लिङ्ग ('कल' आदि चिन्ह) अनुबन्धों में किया जायगा । संज्ञा की निवृत्ति वचन साध्य नहीं है । संज्ञा का ऐसा स्वभाव है संज्ञी का बोध करा कर स्वयं निवृत्त हो जाती है । इससे अनुबन्धों की भी निवृत्ति हो जायगी (इतना लाघव होगा) । हाँ ठीक है, पर ऐसा करना अपाणिनीय होगा ।

तो जैसे आचार्य ने सूत्र पढ़ा है वैसे ही रहने दो । अजी अभी आपने कहा था--संज्ञाधिकार कहना चाहिये ताकि कौन शब्द संज्ञा है यह बोध हो सके, नहीं तो सम्बन्ध की प्रतीति न होगी जैसे लोक में । नहीं, जैसे लोक में वैसे ही व्याकरण-शास्त्र में हो--यह कोई नियम नहीं । प्रामाण्य को प्राप्त भगवान् सूत्रकार ने कुशापीड से पवित्रपाणि हो, शुद्ध-प्रदेश में स्थित हो, पूर्व की ओर मुँह कर आसन पर बैठ, बड़े प्रयत्न से इन सूत्रों को रचा है उनमें एक वर्ण भी अनर्थक नहीं हो सकता, इतने वर्णों से घटित समग्र सूत्र की अनर्थकता तो दूर रही ।

इस से क्या यदि एक वर्ण भी अनर्थक नहीं ?

इस से यही आता है कि वृद्धिशब्द संज्ञा है और आदैच् संज्ञी है ।

क्या शब्दसाधुत्व का अनुशासन करनेवाले इस शास्त्र में इन दो 'वृद्धि' और 'आदैच्' का साधुत्व तो नहीं बताया जा रहा ?

१. प्रमाणभूत आचार्यः--प्रामाण्यं प्राप्तः । भू प्राप्तावात्मनेपदी ।

कृतमनयोः साधुत्वम् । कथम् । वृधिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः प्रकृतिपाठे, तस्मात् क्तिन्प्रत्ययः । आदैचोप्यक्षरसमाम्नाय उपदिष्टाः ।

प्रयोगनियमार्थं तर्हीदं स्यात्—वृद्धिशब्दात्परे आदैचः प्रयोक्तव्या इति । नेह प्रयोगनियम आरभ्यते । किन्तर्हि संस्कृत्य संस्कृत्य पदान्युत्सृज्यन्ते तेषां यथेष्टमभिसम्बन्धो भवति । तद्यथा—आहर पात्रम्, पात्रमाहरेति ।

आदेशास्तर्हीमे स्युः । वृद्धिशब्दस्यादैच आदेशाः । षष्ठीनिर्दिष्टस्यादेशा भवन्ति । न चात्र षष्ठीं पश्यामः ।

आगमास्तर्हीमे स्युर्वृद्धिशब्दस्यादैच आगमाः । आगमा अपि षष्ठीनिर्दिष्टस्यैवोच्यन्ते । लिङ्गेन च । न चात्र षष्ठीं न खल्वप्यागमलिङ्गं पश्यामः ।

इदं खल्वपि भूयः सामानाधिकरण्यमेकविभक्तिकत्वं च । द्वयोश्चैतद्भवति । कयोः । विशेषणविशेष्ययोर्वा संज्ञासंज्ञिनोर्वा । तत्रैतत्स्यात्—

इनका साधुत्व पहले ही बताया जाचुका है । धातुपाठ में व्याकरणाध्येता के लिये वृध् का सामान्यरूपेण उपदेश कर दिया गया है, उससे परे क्तिन् प्रत्यय विहित है, आदैच् भी अक्षर-समाम्नाय में उपदिष्ट हैं ।

तो यह सूत्र प्रयोग विषयक नियम करनेवाला हो सकता है—अर्थात् वृद्धिशब्द से परे (नकि पूर्व) आदैच् शब्दों का प्रयोग होना चाहिये । इस शास्त्र में प्रयोग (प्रयुज्यमान पदों का क्रमविषयक) नियम बताने का उपक्रम नहीं किया गया है, किन्तु उन प्रयोगों का साधुत्वान्वाख्यान मात्र किया जाता है, पीछे वक्ता की इच्छानुसार उनका परस्पर सम्बन्ध होता है, जैसे 'आहर पात्रम्' (पात्र लाओ) ऐसी आनुपूर्वी से भी कहा जाता है, 'पात्रमाहर' ऐसा भी ।

तो ये आदेश हो सकते हैं । वृद्धिशब्द के स्थानमें आदैच् आदेश होते हैं । पर आदेश षष्ठीनिर्दिष्ट के स्थान में होते हैं, और यहाँ (इस सूत्र में) षष्ठी विभक्ति दीखती नहीं ।

तो ये आगम हो सकते हैं - वृद्धिशब्द को आदैच् का आगम हो । पर आगम भी षष्ठीनिर्दिष्ट को ही होते हैं । और आगम लिङ्ग (क्, ट्) से जाने जाते हैं । न तो यहाँ षष्ठी दीखती है और नही आगम - लिङ्ग दीखता है ।

और यहाँ प्रकृत-सूत्र में यह भी ध्यान देने योग्य बात है कि ये दोनों पद 'वृद्धि' और 'आदैच्' समानाधिकरण और एकविभक्तिक हैं । और ऐसा सम्बन्ध केवल दो का होता है । कौन से दो का !

या विशेषण विशेष्यका, या संज्ञा और संज्ञी का । तो ये दोनों विशेषण-

विशेषणविशेष्ये इति। तच्च न। द्वयो र्हि प्रतीतपदार्थकयोर्लोके विशेषणविशेष्यभावो भवति। न चादैच्छब्दः प्रतीतपदार्थकः। तस्मात्संज्ञासंज्ञिनावेव।

तत्र त्वेतावान्सन्देहः--कः संज्ञी का संज्ञेति। स चापि क्व सन्देहः। यत्रोभे समानाक्षरे। यत्र त्वन्यतरल्लघु सा संज्ञा, यद्गुरु स संज्ञी। कुत एतत्। लघ्वर्थं हि संज्ञाकरणम्। तत्राप्ययं नावश्यं गुरु लघुतामेवोपलक्षयितुमर्हति, किन्तर्हि, अनाकृतितामपि। अनाकृतिः संज्ञा आकृतिमन्तः संज्ञिनः। लोकेपि ह्याकृतिमयो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते।

अथवाऽऽवर्तिन्यः संज्ञा भवन्ति। वृद्धिशब्दश्चावर्तते, नादैच्छब्दः। तद्यथा--इतरत्रापि देवदत्तशब्द आवर्तते, न मांसपिण्डः।

अथवा पूर्वोच्चारितः संज्ञी, परोच्चारिता संज्ञा। कुत एतत्। सतो हि कार्यिणः कार्येण भवितव्यम्। तद्यथा--इतरत्रापि सतो मांसपिण्डस्य देवदत्त इति संज्ञा क्रियते।

कथं वृद्धिरादैज् इति। एतदेकमाचार्यस्य मङ्गलार्थं मृष्यताम्। माङ्ग-

---

विशेष्य हो सकते हैं। नहीं। प्रसिद्ध अर्थवाले दो शब्दों का लोक में विशेषण-विशेष्य भाव होता है। पर लोक में आदैच् तो अप्रसिद्ध हैं। इसलिये यहाँ संज्ञासंज्ञिभाव ही मानना चाहिये।

अब इसमें इतना सन्देह रहता है—संज्ञी (संज्ञावाला) कौन है, संज्ञा कौन है। वह सन्देह भी कहाँ होता है? जहाँ दोनों उद्दिश्यमान और प्रतिनिर्दिश्यमान शब्द समसंख्यक अक्षरों वाले हों। पर जहाँ दोनों में से एक लघ्वक्षर हो, वह संज्ञा समझनी चाहिये, जो अधिकाक्षर हो वह संज्ञी। यह क्योंकर? व्यवहार में लाघव के लिये संज्ञा की जाती है। पर केवल गुरुलघुता को निर्णायक रूप से स्वीकार करना युक्त न होगा, अनाकृतिता (आकृति-हीनता) को भी। संज्ञा अनाकृति होती है, संज्ञी आकृतिमान् होते हैं। लोकमें भी आकृतिवाले मांसपिण्ड की 'देवदत्त' यह संज्ञा की जाती है।

अथवा जो संज्ञायें होती हैं उन की विधिसूत्रों में आवृत्ति (पुनः पुनः उच्चारण) होती है। वृद्धिशब्द की आवृत्ति देखी जाती है, आदैच् शब्द की नहीं। जैसे अन्यत्र (लोक) में भी देवदत्त शब्द की आवृत्ति होती है, मांस पिण्ड की नहीं।

अथवा जिस का पूर्वोच्चारण है वह संज्ञी जानना चहिये, जिस का पीछे उच्चारण है वह संज्ञा। यह क्योंकर? इसलिये कि बुद्धिद्वारा विषयीकृत अर्थ को पहले शब्द से कहकर उसको संज्ञा आदि कार्य विधान किया जाता है, जैसे अन्यत्र (लोकमें), बुद्धिसद्रूप मांसपिण्ड की देवदत्त' संज्ञा की जाती है।

तो 'वृद्धिरादैच्' यह सूत्र-न्यास कैसे हुआ! यहाँ जो क्रम का व्युत्क्रम हुआ

लिक आचार्यो महतः शास्त्रौघस्य मङ्गलार्थं वृद्धिशब्दमादितः प्रयुङ्क्ते। मङ्गलादीनि हि शास्त्राणि प्रथन्ते वीरपुरुषकाणि भवन्त्यायुष्मत्पुरुषकाणि चाध्येतारश्च वृद्धियुक्ता यथा स्युरिति। सर्वत्रैव हि व्याकरणे पूर्वोच्चारितः संज्ञी, परोच्चारिता संज्ञा 'अदेङ् गुण' इति यथा।

दोषवान्खल्वपि संज्ञाधिकारः। अष्टमेपि हि संज्ञा क्रियते - तस्य परमाम्रेडितम् इति। तत्रापीदमनुवर्त्यं स्यात्।

अथवाऽस्थानेऽयं यत्नः क्रियते। नहीदं लोकाद् भिद्यते। यदीदं लोकाद् भिद्येत ततो यत्नार्हं स्यात्। तद्यथा—अगोज्ञाय कश्चिद्गां सक्थनि कर्णे वा गृहीत्वोपदिशति— अयं गौरिति। न चास्मायाचष्टे इयमस्य संज्ञेति। भवति चास्य सम्प्रत्ययः।

तत्रैतत्स्यात्—कृतस्तत्र पूर्वैरभिसम्बन्ध इति। इहापि कृतः पूर्वैरभिसम्बन्धः। कैः। आचार्यैः। तत्रैतत्स्यात्—यस्मै तर्हि सम्प्रत्युपदिशति तस्याकृत

है वह आचार्य ने मङ्गल के लिये किया है, सो यह एक दोष मर्षणीय है। मङ्गलाकाङ्क्षी आचार्य ने बृहत् सूत्रसमूह के मङ्गल के लिये 'वृद्धि' शब्द को आदि में प्रयुक्त किया है। कारण कि आदिमें मङ्गलयुक्त शास्त्र प्रसिद्धि को प्राप्त होते हैं, श्रोता बाद में वीर (अपराजित) तथा चिरंजीव होते हैं, और अध्येता वृद्धि-युक्त होते हैं। व्याकरण में सर्वत्र पहले उच्चारित संज्ञी होता है और पीछे उच्चारित संज्ञा। जैसे आदेङ् गुणः इस सूत्र में।

संज्ञाऽधिकार करना भी दोषयुक्त ही है। अष्टम अध्याय में भी संज्ञायें की जाती हैं जैसे 'तस्य परमाम्रेडितम् (८।१।२) यहाँ जो दो उच्चारित किये जाते हैं उनमें से पहले को आम्रेडित कहते हैं)। वहाँ भी इस अधिकार की अनुवृत्ति होगी।

अथवा संज्ञा आदि निर्देश-रूप यत्न का कोई अवसर नहीं। संज्ञा आदि निर्देश न होना कोई लोक से न्यारी बात नहीं है। यदि शास्त्र में लोकसे न्यारी बात हो तो अवश्य इस के लिये वचन-रूप यत्न करना होगा। जैसे जो कोई गौ को पहचानता नहीं, उसे दूसरा कोई गौको ऊरुभाग अथवा कान से पकड़ कर बताता है—यह गौ (बैल) है, और यह नहीं कहता कि यह इस की संज्ञा (नाम) है। तिसपर भी उसे यथेष्ट बोध हो जाता है।

वहाँ तो यह हो सकता है कि वृद्धों ने अपने व्यवहार से गो शब्द का उस पदार्थ के साथ (वाच्य-वाचक) सम्बन्ध किया हुआ है। यहाँ भी पूर्व लोगों ने सम्बन्ध किया हुआ है। किन्हों ने ? आचार्यों ने। उसमें भी ऐसा हो सकता है कि जिसके लिये अब उपदेश हो रहा है उसके लिये तो यह सम्बन्ध असिद्ध है। (पर यह भी लोक से

इति। लोकेऽपि हि यस्मै सम्प्रत्युपदिशति तस्याकृतः । अथ तत्र कृतः, इहापि कृतो द्रष्टव्यः ॥

सतो वृद्ध्यादिषु संज्ञाभावात्तदाश्रय इतरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः ॥

सतः संज्ञिनः संज्ञाभावात्। तदाश्रये संज्ञाश्रये संज्ञिनि वृद्ध्यादिष्वितरेतराश्रयत्वादप्रसिद्धिः। का इतरेतराश्रयता। सतामादैचां संज्ञया भवितव्यम्, संज्ञया[1] चादैचो भाव्यन्ते। तदेतद् इतरेतराश्रयं भवति। इतरेतराश्रयाणि च कार्याणि न प्रकल्पन्ते। तद्यथा—नौर्नावि बद्धा नेतरत्राणाय भवति।

ननु च भो इतरेतराश्रयाण्यपि कार्याणि दृश्यन्ते। तद्यथा - नौः शकटं वहति, शकटं च नावं वहति। अन्यदपि तत्र किञ्चिद्भवति जलं स्थलं वा। स्थले शकटं नावं वहति। जले नौः शकटं वहति।

यथा तर्हि त्रिविष्टब्धकम्। तत्राप्यन्ततः सूत्रकं भवति। इदं पुनरितरेतराश्रयमेव।

न्यारी बात नहीं) लोक में भी जिसे गवादि शब्दार्थ सम्बन्ध अभी बताया जारहा है उस के लिये तो असिद्ध ही है। यदि अनुमान आदि द्वारा लोक में सिद्ध माना जाता है, तो शास्त्रमें भी सिद्ध मानने में कोई अड़चन नहीं।

(वा०) निष्पन्न का वृद्ध्यादि संज्ञा के साथ सम्बन्ध होने से तथा संज्ञी का संज्ञाऽऽश्रित होनेसे अन्योन्याश्रय होनेसे वाक्यार्थ की सिद्धि न होगी।

संज्ञी के विद्यमान होने पर संज्ञा होने से। तदाश्रये अर्थात् संज्ञाऽऽश्रय संज्ञी होने पर वृद्ध्यादि पदों में अन्योन्याश्रय होने से वाक्यार्थ न बन सकेगा।

यहां कौन सा अन्योन्याश्रय है ?

आदैच् पहले सिद्ध हों तो उनकी वृद्धिसंज्ञा हो, और संज्ञा से आदैच् की उत्पत्ति होती है, यही अन्योन्याश्रय है। अन्योन्याश्रितकार्य नहीं सिद्ध होते। जैसे एक (कर्णधार रहित) नौका ऐसीही दूसरी नौका से बांधी हुई एक दूसरे की रक्षा करनेमें असमर्थ होती है।

अजी अन्योन्याश्रित कार्य भी सिद्ध होते हुए देखे जाते हैं, जैसे नौका छकड़े को देशान्तर में ले जाती है और छकड़ा नौका को। (यह दृष्टान्त ठीक नहीं) कुछ और भी वहाँ विशेष होता है जल अथवा स्थल। स्थल में छकड़ा नौका को ले जाता है, जल में नौका छकड़े को (सो यहां अन्योन्याश्रय नहीं)।

अच्छा तो त्रिविष्टब्धक दृष्टान्त सही। यहाँ भी भीतर कीलकादि कारणान्तर सिद्धि का प्रयोजक है। प्रकृत में तो अन्योन्याश्रय दोष अपरिहार्य ही ठहरा।

---

१. संज्ञा द्वारा वृद्धिविधायक 'मृजे वृद्धिः' इत्यादि शास्त्र में।

सिद्धं तु नित्यशब्दत्वात् ॥

सिद्धमेतत्। कथम्। नित्यशब्दत्वात्। नित्याः शब्दाः, नित्येषु शब्देषु सतामादैचां संज्ञा क्रियते, न च संज्ञयाऽऽदैचो भाव्यन्ते।

यदि तर्हि नित्याः शब्दाः, किमर्थं शास्त्रम्।

किमर्थं शास्त्रमिति चेन्निवर्तकत्वात्सिद्धम् ॥

निवर्तकं शास्त्रम्। कथम्। मृजिरस्मायविशेषेणोपदिष्टः। तस्य सर्वत्र मृजिबुद्धिः प्रसक्ता। तत्रानेन निवृत्तिः क्रियते मृजेरक्ङित्सु प्रत्ययेषु मृजिप्रसङ्गे मार्जिः साधुर्भवतीति।

वृद्धिगुणसंज्ञयोः प्रत्येकं वचनम् ॥

वृद्धिगुणसंज्ञयोः प्रत्येकं ग्रहणं कर्तव्यम्। प्रत्येकं वृद्धिगुणसंज्ञे भवत इति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्। समुदाये मा भूतामिति।

(वा०) शब्द की नित्यता के कारण अन्योन्याश्रय दोष न होगा।

इस दोष का परिहार हो जाता है।

कैसे ?

शब्द नित्य हैं, इस हेतु से।

शब्दनित्य हैं, शब्दों के नित्य होते हुए (पहले से) विद्यमान आ, ऐ, औ की (वृद्धि) संज्ञा की जाती है न कि संज्ञाद्वारा (अपूर्व) आ, ऐ, औ को बनाया जाता है।

यदि शब्द नित्य हैं, तो शास्त्र किस काम का रहा ?

(वा०) यदि पूछो शास्त्र किस काम का रहा, शास्त्र निवर्तक होने से सफल है।

शास्त्र निवर्तक है। कैसे ? अध्येता के लिये 'मृज्' धातु का सामान्यरूप से उपदेश कर दिया गया है। उसकी सर्वत्र मृज् रूप ही साधु है ऐसी बुद्धि होने लगी। तब शास्त्र इस प्रकार इसकी निवृत्ति करता है—कित् ङित्-भिन्न प्रत्ययों के परे रहते मृज् के प्रसङ्ग (अवसर) में 'मार्जि' रूप साधु होता है।

(वा०) वृद्धिगुण संज्ञा करते समय. 'प्रत्येक' शब्द का उच्चारण करना चाहिये।

अर्थात् यह कहना चाहिये कि वृद्धि और गुणसंज्ञा आदैच् (आ, ऐ, औ) और अदेङ् (अ, ए, ओ) में के प्रत्येक की होती है।

इस का क्या प्रयोजन है ?

समुदाय (आदैच् अदेङ्) की मत हो।

अन्यत्र सहवचनात्समुदाये संज्ञाप्रसङ्गः ॥

अन्यत्र सहवचनात्समुदाये वृद्धिगुणसंज्ञयोरप्रसङ्गः । यत्रेच्छति सहभूतानां कार्यं करोति तत्र सहग्रहणम् । तद्यथा "सह सुपा" "उभे अभ्यस्तं सह" इति ।

प्रत्यवयवं च वाक्यपरिसमाप्तेः ।

प्रत्यवयवं च वाक्यपरिसमाप्तिर्दृश्यते । तद्यथा देवदत्तयज्ञदत्तविष्णुमित्रा भोज्यन्तामिति । न चोच्यते प्रत्येकमिति । प्रत्येकं च भुजिः परिसमाप्यते ।

ननु चायमप्यस्ति दृष्टान्तः—समुदाये वाक्यपरिसमाप्तिरिति । तद्यथा-गर्गाः शतं दण्डयन्तामिति । अर्थिनश्च राजानो हिरण्येन भवन्ति, न च प्रत्येकं दण्डयन्ति । सत्येतस्मिन्दृष्टान्ते यदि तत्र सहग्रहणं क्रियते, इहापि प्रत्येकमिति वक्तव्यम् । अथ तत्रान्तरेण सहग्रहणं सहभूतानां कार्यं भवति, इहापि नार्थः प्रत्येकमिति वचनेन ॥

अथ किमर्थमाकारस्तपरः क्रियते ।

(वा०) जहाँ 'सह' शब्द उच्चारित नहीं होता वहाँ समुदायकी संज्ञा का प्रसङ्ग ही नहीं ।

जहाँ आचार्य समुदाय को कार्य करना चाहते हैं वहाँ 'सह' शब्द का उच्चारण करते हैं जैसे "सह सुपा" (२।१।४) उभेअभ्यस्तं (६।१।५) सह इत्यादि में ।

(वा०) प्रत्येक में भी वाक्यार्थ की परिसमाप्ति देखी जाती है इसलिये भी प्रत्येक की संज्ञा होगी । जैसे देवदत्त यज्ञदत्त विष्णुमित्र को भोजन खिलाओ । यह नहीं कहा जाता कि इन में से प्रत्येक को, पर प्रत्यक में भोजन क्रिया पर्यवसित (पूर्णरूप से समाप्त) होती है ।

अजी यह भी तो दृष्टान्त है—समुदाय में वाक्यार्थ की समाप्ति होती है । जैसे गर्ग लोगों से सौ दण्ड (जुर्माना) लिया जाय । राजाओं को धन की अपेक्षा होती है पर वे प्रत्येक से दण्ड नहीं लेते । इस दृष्टान्त के होते हुए भी यदि वहाँ (गर्ग-दण्डन में) सह ग्रहण किया जाता हो तो यहाँ प्रकृत में भी 'प्रत्येकम्, यह कहना चाहिये । पर यदि वहाँ विना सह ग्रहण समुदाय को कार्य होता है, तो यहाँ भी 'प्रत्येकम्' इस बचन का कुछ प्रयोजन नहीं ।

अब यह विचार उपस्थित होता है कि सूत्र में आकार "तपर" क्यों किया गया है ।

आकारस्य तपरकरणं सवर्णार्थम् ॥

आकारस्य तपरकरणं क्रियते। किं प्रयोजनम्। सवर्णार्थम्। तपरस्तत्कालस्य इति तत्कालानां सवर्णानां ग्रहणं यथा स्यात्। केषाम्। उदात्तानुदात्तस्वरितानाम्। किं च कारणं न स्यात्।

भेदकत्वात्स्वरस्य ॥

भेदका उदात्तादयः। कथं पुनर्ज्ञायते भेदका उदात्तादय इति। एवं हि दृश्यते लोके य उदात्ते कर्तव्येऽनुदात्तं करोति खण्डिकोपाध्यायस्तस्मै चपेटां ददाति अन्यत्त्वं करोषीति।

अस्ति प्रयोजनमेतत्। किन्तर्हि। इति —

भेदकत्वाद्गुणस्य ॥

भेदकत्वाद्गुणस्येति वक्तव्यम्। किं प्रयोजनम्' आनुनासिक्यं नाम गुणः, तद्भिन्नस्यापि ग्रहणं यथा स्यात् किं च कारणं न स्यात्। भेदकत्वाद् गुणस्य। भेदका गुणाः। कथं पुनर्ज्ञायते भेदका गुणा इति। एवं हि दृश्यते

(वा०) आकार का "तपर" करना सवर्ण ग्रहण के लिये है। आकार "तपर" किया गया है। इसका क्या प्रयोजन है? सवर्ण ग्रहण के लिये। तपरस्तत्कालस्य इस शास्त्र से अपने समान काल वाले दूसरे सवर्ण अकारों का भी ग्रहण हो सके, इसलिये। किन का?

उदात्त अनुदात्त स्वरित (आकारों) का।

क्या कारण है कि ('तपर' किये बिना) इनका ग्रहण न होगा?

(वा०) उदात्त आदि स्वरों के भेदक होने से ॥

उदात्त आदि भेदक हैं।

यह कैसे जाना कि उदात्त आदि भेदक होते हैं?

ऐसा लोक में देखा जाता है जो शिष्य उदात्त उच्चारण करने के स्थान में अनुदात्त उच्चारण करता है खण्डिकोपाध्याय उसके मुंह पर चपत देता है यह कहते हुए कि तू कुछ और का उच्चारण कर रहा है।

तो यह 'तपरत्व' का प्रयोजन ठहरा न? तो क्या कहना है? यह कि—

(वा०) गुणों के भेदक होने से ॥

गुण के भेदक होने से यह कहना चाहिये।

आनुनासिक्य गुण है, तद्गुणविशिष्ट का ग्रहण हो जाय इसलिये। क्या कारण है कि आनुनासिक्य गुण (धर्म) वाले आदैच् (आ ऐ औ) का ग्रहण नहीं होता!

लोके—एकोऽयमात्मा[1] उदकं नाम, तस्य गुणभेदादन्यत्वं भवति—अन्यदिदं शीतम्, अन्यदिदमुष्णमिति।

ननु भो अभेदका अपि गुणा दृश्यन्ते। तद्यथा देवदत्तो मुण्डयपि जटयपि शिख्यपि स्वामाख्यां न जहाति, तथा बालो युवा वृद्धो वत्सो दम्यो बलीवर्द इति।

उभयमिदं गुणेषूक्तम्—भेदका अभेदका इति। किं पुनरत्र न्याय्यम्। अभेदका गुणा इत्येव न्याय्यम्। कुत एतत्। यदयम् 'अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णा-मनङुदात्तः' इत्युदात्तग्रहणं करोति तज्ज्ञापयत्याचार्योऽभेदका गुणा इति। यदि हि भेदका गुणाः स्युः, उदात्तमेवोच्चारयेत्।

गुण के भेदक होने से। गुण भेदक हैं।

कैसे जानते हो कि गुण भेदक होते हैं!

ऐसा ही लोक में देखते हैं। सभी जल एक अभिन्नद्रव्य है। उस का गुणभेद से भेद हो जाता है, यह शीत जल और है और यह उष्ण जल और।

अजी गुण अभेदक भी देखे जाते हैं, जैसे देवदत्त चाहे मुण्डित सिर वाला हो, चाहे जटा वाला और चाहे शिखा वाला, अपने (देवदत्त इस) नाम को नहीं छोड़ता इसी प्रकार वही देवदत्त बाल्य यौवन और वृद्धत्व को प्राप्त हुआ भी देवदत्त ही रहता है। तथा एक ही गो-पिण्ड अवस्थाभेद से 'वत्स', 'दम्य' और 'बलीवर्द' कहलाता है।

गुणों के विषय में दोनों बातें देखी जाती हैं—गुण भेदक भी हैं और अभेदक भी। शास्त्र में कौन सा पक्ष न्याय्य (युक्त) है। गुण अभेदक हैं यही न्याय्य है।

यह कैसे जानें!

जो आचार्य "अस्थिदधिसक्थ्यक्ष्णामनङुदात्तः" इस सूत्र में अनङ् को उदात्त बतलाते हैं इस से ज्ञपित करते हैं कि गुण अभेदक होते हैं। यदि गुण भेदक हों तो उदात्तगुणयुक्त अनङ् का उच्चारण कर दे (जिस से तद्गुणविशिष्ट का ही ग्रहण होगा दूसरे का नहीं)।

---

१. आत्मन् शब्द यहाँ द्रव्यवाची है।

२. आम्नाय शब्दों में स्वर नियत है, अतः वेद में गुण भेदक ही हैं। लोक में दोनों तरह से व्यवहार है। एक ही गोपिण्ड का वत्स आदि अवस्था भेद से व्यवहार है, और यह वही गो पिण्ड है ऐसी पहचान होने से अभेद से भी। अत्र=शास्त्रे।

यदि तर्ह्यभेदका[1] गुणा अनुदात्तादेरन्तोदात्ताच्च यदुच्यते तत्स्वरितादेः स्वरितान्ताच्च प्राप्नोति। नैष दोषः। आश्रीयमाणो गुणो भेदको भवति। तद्यथा-शुक्लमालभेत, कृष्णमालभेत। तत्र यः शुक्ल आलब्धव्ये कृष्णमालभते, न हि तेन यथोक्तं कृतं भवति।

असन्देहार्थस्तर्हि तकारः। ऐजित्युच्यमाने सन्देहः स्यात्किमिमावैचावेव, आहोस्विदाकारोऽप्यत्र निर्दिश्यत इति। सन्देहमात्रमेतद्भवति। सर्वसन्देहेषु चेदमुपतिष्ठते-व्याख्यानतो विशेषप्रतिपत्तिर्न हि सन्देहादलक्षणम् इति। त्रयाणां ग्रहणमिति व्याख्यास्यामः। अन्यत्राप्येवञ्जातीयकेषु सन्देहेषु न कंचिद् यत्नं करोति। तद्यथा—"औतोम्शसोः" इति।

अच्छा यदि गुण अभेदक हैं तो जो कार्य अनुदात्तादि अथवा अन्तोदात्त को विधान किया जाता है वह स्वरितादि अथवा स्वरितान्त को भी होने लगेगा। यह कोई दोष नहीं। स्व-वाचक शब्द द्वारा निर्दिष्ट गुण भेदक ही होता है। जैसे शुक्ल का आलम्भन (यागार्थ वध) करे, कृष्ण का आलम्भन करे। ऐसी चोदना होते हुए जो शुक्ल के स्थान में कृष्ण का आलम्भन करता है, वह शास्त्रोक्त अनुष्ठान नहीं करता।

अच्छा तो प्रकृत में "तपर" नहीं किया है, असन्देह के लिये तकार का उच्चारण किया है ऐसा समझना चाहिये। यदि 'त्' न पढ़ा जाय, केवल 'ऐच्' ही पढ़ा जाय तो सन्देह होगा कि यहाँ ऐच् मात्र का निर्देश है अथवा आकार भी प्रश्लि है। यह केवल सन्देह है (कोई दोष नहीं), और जहाँ भी सन्देह हो वहाँ यह परिभाषा उपस्थित होती है—व्याख्यान से विशेष बोध होता है, सन्देह होने से ही लक्षण अलक्षण नहीं हो जाता। तीनों का ग्रहण इष्ट है ऐसा विवरण करदेंगे। अन्यत्र भी इस प्रकार के सन्देहों में कोई वचन-रूप यत्न नहीं किया जाता, जैसे "औतोम्शसोः" इस सूत्र में व्याख्यान से अवगत होता है कि आकार और ओकार-दोनों का निर्देश है।

---

१. गुण-रहित का उच्चारण तो होगा नहीं, उच्चारण अवश्य ही उदात्त अथवा स्वरित सहित ही होगा। यदि गुण अभेदक होते हैं यह पक्ष है तो किसी एक स्वर से उच्चारण किया हुआ अकारादि स्वरान्तर-युक्त अकारादि का भी बोधक हो सकता है जबतक कि वह उच्चारितस्वर विवक्षित है यह बताने के लिये उसके साथ तद्वाचक उदात्त आदि शब्द का उच्चारण न हो। यदि गुण भेदक होते हैं यह पक्ष है तो किसी एक स्वर से उच्चारण करना ही अन्य-स्वर-युक्त अकारादि की निवृत्तिके लिये पर्याप्त होगा।

इदं तर्हि प्रयोजनम्—आन्तर्यतस्त्रिमात्र चतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्र-चतुर्मात्रा आदेशा मा भूवन्निति। खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्रः, खट्वा उदकम् खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेषा, खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका, खट्वा ओदनः खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगव इति।

अथ क्रियमाणेपि तकारे कस्मादेव त्रिमात्रचतुर्मात्राणां स्थानिनां त्रिमात्रचतुर्मात्रा आदेशा न भवन्ति। तपरस्तत्कालस्य इति नियमात्। ननु तः परो यस्मात्सोऽयं तपरः। नेत्याह। तादपि परस्तपरः। यदि तादपि परस्तपरः, "ऋदोरप्" इतीहैव स्यात्—यवः स्तवः, लवः पव इत्यत्र न स्यात्। नैष तकारः। कस्तर्हि। दकारः। किं दकारे प्रयोजनम्। अथ किं तकारे। यद्यसन्देहार्थस्तकारः, दकारोपि। अथ मुखसुखार्थस्तकारः, दकारोपि। वृद्धिरादैच्॥

इको गुणवृद्धी ॥१।१।३॥

इग्ग्रहणं किमर्थम्।

तो तपर करण का यह प्रयोजन है—आन्तरतम्य से त्रिमात्र चतुर्मात्र स्थानियों को त्रिमात्र चतुर्मात्र आदेश न होने लग जायं। खट्वा इन्द्रः खट्वेन्द्र (यहाँ 'ए'-त्रिमात्र न हो), खट्वा उदकं खट्वोदकम्, खट्वा ईषा खट्वेषा (यहाँ 'ए' चतुर्मात्र-न हो), खट्वा ऊढा खट्वोढा, खट्वा एलका खट्वैलका (यहाँ 'ऐ' चतुर्मात्र नहो) खट्वा ओदनः खट्वौदनः, खट्वा ऐतिकायनः, खट्वैतिकायनः, खट्वा औपगवः खट्वौपगवः।

प्रश्न यह है कि तकार उच्चारण करने पर भी किस कारण त्रिमात्र चतुर्मात्र स्थानियों को त्रिमात्र चतुर्मात्र आदेश नहीं होते? 'तपरस्तत्कालस्य' इस नियम से। पर 'त्' जिससे परे हो वह "तपर" होता है (ऐच् से तो 'त्' पूर्वोच्चारित है), नहीं, 'त्' से जो परे हो वह भी "तपर" होता है। यदि 'त्' से परे भी "तपर" होता है तो ऋदोरप् (३।३।५७) इस सूत्र से यवः स्तवः यहाँ ही अप् प्रत्यय हो सकेगा, लवः पवः यहाँ नहीं। पर इस सूत्र में तकार नहीं है। तो क्या है? दकार। दकारोच्चारण का क्या प्रयोजन है? हम आप से पूछते हैं तकार उच्चारण का क्या प्रयोजन है। यदि संदेहाभाव के लिये तकार है, तो दकार भी इसीलिये हो सकता है। और यदि उच्चारण सौकर्य के लिये तकार है, तो दकार भी इसीलिये हो सकता है॥ यहाँ वृद्धिरादैच् सूत्र की व्याख्या समाप्त हुई॥

इको गुणवृद्धी॥

इस सूत्र में इक् का ग्रहण किसलिये किया है?

---

१. यु स्तु (अदादि) ह्रस्व उकारान्त हैं लू पू (क्र्यादि)—दीर्घ ऊकारान्त हैं।

इग्ग्रहणमात्सन्ध्यक्षरव्यञ्जननिवृत्त्यर्थम् ॥

इग्ग्रहणं क्रियते । किं प्रयोजनम् । आकारनिवृत्त्यर्थं सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थं व्यञ्जननिवृत्त्यर्थं च ।

आकारनिवृत्त्यर्थं तावत्—याता वाता । आकारस्य गुणः प्राप्नोति । इग्ग्रहणान्न भवति । सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थम्—ग्लायति म्लायति । सन्ध्यक्षरस्य गुणः प्राप्नोति । इग्ग्रहणान्न भवति । व्यञ्जननिवृत्त्यर्थम्–उम्भिता उम्भितुम् । उम्भितव्यम् । व्यञ्जनस्य गुणः प्राप्नोति । इग्ग्रहणान्न भवति ।

आकारनिवृत्त्यर्थेन तावन्नार्थः । आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति–नाकारस्य गुणो भवतीति । यदयम् "आतोऽनुपसर्गे कः" इति ककारमनुबन्धं करोति । कथं कृत्वा ज्ञापकम् । कित्करण एतत्प्रयोजनम्–कितीत्याकारलोपो यथा स्यात् यदि चाकारस्य गुणः स्यात् कित्करणमनर्थकं स्यात् । गुणे कृते द्वयोरकारयोः पररूपेण सिद्धं रूपं गोदः कम्बलद इति । पश्यति त्वाचार्यो नाकारस्य गुणो भवतीति, ततः ककारमनुबन्धं करोति ।

(वा०) इक् का ग्रहण, आकार सन्ध्यक्षर और व्यञ्जन की निवृत्ति के लिये (किया गया है) ॥

इक् का ग्रहण किया है । प्रयोजन क्या है ?

आकार-निवृत्ति के लिये, सन्ध्यक्षर की निवृत्ति के लिये तथा व्यञ्जन की निवृत्ति के लिये ।

आकार की निवृत्ति के लिये इक् ग्रहण अर्थवान् है–याता वाता यहाँ आकार को गुण प्राप्त होता है । इक् ग्रहण से रुक जाता है । सन्ध्यक्षर की निवृत्ति के लिये इक् ग्रहण चाहिये ग्लायति म्लायति । यहाँ सन्ध्यक्षर को गुण प्राप्त होता है, इक् ग्रहण से रुक जाता है । व्यञ्जनकी निवृत्ति के लिये भी इक् ग्रहण चाहिये उम्भिता उम्भितुम् । यहाँ व्यञ्जन (भ्) के स्थान में (ओष्ठ्य होने से) (ओ) गुण प्राप्त होता है, इक् ग्रहण से रुक जाता है ।

आकार निवृत्ति के लिये इक् ग्रहण का कुछ प्रयोजन नहीं । आचार्य का व्यवहार बताता है कि आकार को गुण नहीं होता । आचार्य का "आतोऽनुपसर्गे कः" इस सूत्र में ककार अनुबन्ध लगाना इसमें ज्ञापक है । यह ज्ञापक कैसे होता है ? कित्करने का यही प्रयोजन है कित् प्रत्यय को निमित्त बनाकर (आतो लोप इटि च ६।४।६४ इस सूत्र से) धातु के आकार का लोप हो जाय । (पर) यदि आकार को गुण (अ) होता हो तो कित् करना व्यर्थ हो जाय । गुण होने पर (गुण-रूप) 'अ' और (प्रत्यय-रूप) 'अ' के (अतो गुणे ६।१।६७ इस सूत्र से) पररूप होने से गोदः कम्बलदः–ये रूप सिद्ध हो जायंगे । आचार्य जानते हैं कि 'आ' को गुण नहीं

सन्ध्यक्षरनिवृत्त्यर्थेनापि नार्थः। उपदेशसामर्थ्यात् सन्ध्यक्षरस्य गुणो न भवति।

व्यञ्जननिवृत्त्यर्थेनापि नार्थः। आचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति। यदयं जनेर्डं शास्ति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। डित्करण एतत्प्रयोजनम्–डितीति टिलोपो यथा स्यात्। यदि व्यञ्जनस्य गुणः स्याद् डित्करणमनर्थकं स्यात्। गुणे कृते त्रयाणामकाराणां पररूपेण सिद्धं रूपं स्यादुपसरजो मन्दुरज इति। पश्यति त्वाचार्यो न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति। ततो जनेर्डं शास्ति।

नैतानि सन्ति ज्ञापकानि। यत्तावदुच्यते—कित्करणं ज्ञापकं नाकारस्य गुणो भवतीति। उत्तरार्थमेतत्स्यात्—"तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः" इति।

यत्तर्हि "गापोष्टक्" इत्यनन्यार्थं ककारमनुबन्धं करोति।

होता, अतः इष्ट-रूप सिद्धि के लिये ककार अनुबन्ध लगाते हैं।

सन्ध्यक्षर की निवृत्ति के लिये भी इक् ग्रहण का कुछ प्रयोजन नहीं। आचार्य ने (ऐ औ) सन्ध्यक्षरों को वर्णसमाम्नायमें पढ़ा है, वह पढ़ना (उपदेश) व्यर्थ हो जायगा यदि ऐ औ के स्थान में गुण (ए, ओ) हो जाय।

व्यञ्जन निवृत्ति के लिये भी इक् ग्रहण की कोई आवश्यकता नहीं। आचार्य का व्यवहार बताता है कि व्यञ्जन को गुण नहीं होता। आचार्य का जन् धातु से 'ड' प्रत्यय करना इस में ज्ञापक है।

यह ज्ञापक कैसे होता है?

डित् करने का यही प्रयोजन है कि डित् प्रत्यय को निमित्त मानकर टि-लोप हो जाय। (पर) यदि व्यञ्जन को गुण होता हो तो डित् करना व्यर्थ हो जाय। (कारण कि) गुण होने पर तीन अकारों (जकारोत्तरवर्ती अकार 'न्' को गुण, करने से प्राप्त 'अ' तथा प्रत्यय का 'अ') का पर-रूप होने से उपसरजः, मन्दुरजः ये रूप सिद्ध हो जायंगे। आचार्य जानते हैं कि व्यञ्जन को गुण नहीं होता, अतः जन् धातु से 'ड' प्रत्यय का विधान करते हैं। (और इस तरह इष्ट रूप की सिद्धि करते हैं)।

ये ज्ञापक नहीं हैं। यह जो कहा गया है कि "आतोऽनुपसर्गे कः" में कित् करना इस बात का ज्ञापक है कि आकार को गुण नहीं होता, सो यह (सप्रयोजन होने से) उत्तर-सूत्र "तुन्दशोकयोः परिमृजापनुदोः" में अनुवृत्ति के लिये होने से ज्ञापक नहीं।

अच्छा तो "गापोष्टक" में ककारानुबन्ध का तो और कुछ प्रयोजन नहीं सो यह ज्ञापक होगा।

यदप्युच्यते—उपदेशसामर्थ्यात्सन्ध्यक्षरस्य गुणो न भवतीति। यदि यद्यत्सन्ध्यक्षरस्य प्राप्नोति तत्तदुपदेश-सामर्थ्याद् बाध्यते, आयादयोपि तर्हि न प्राप्नुवन्ति। नैष दोषः। यं विधिं प्रत्युपदेशोऽनर्थकः स विधिर्बाध्यते। यस्य तु विधेर्निमित्तमेव, नासौ बाध्यते। गुणं च प्रत्युपदेशोऽनर्थकः, आयादीनां पुनर्निमित्तमेव ॥

यदप्युच्यते—जनेर्डवचनं ज्ञापकम्—न व्यञ्जनस्य गुणो भवतीति। सिद्धे विधिरारभ्यमाणो ज्ञापकार्थो भवति। न च जनेर्गुणेन सिध्यति। कुतो ह्येतत्—जनेर्गुण उच्यमानोऽकारो भवति, न पुनरेकारो वा स्यादोकारो वेति। आन्तर्यतोऽर्धमात्रिकस्य व्यञ्जनस्य मात्रिकोऽकारो भविष्यति। एवमप्यनुनासिकः प्राप्नोति। पर-रूपेण शुद्धो भविष्यति। एवं तर्हि गमेरप्ययं डो वक्तव्यः। गमेश्च गुण उच्यमान आन्तर्यत ओकारः प्राप्नोति। तस्मादिग्ग्रहणं कर्तव्यम् ॥

यह जो कहा गया है उपदेश की सार्थकता के लिये सन्ध्यक्षर को गुण न होगा। यदि जो-जो कार्य सन्ध्यक्षर को प्राप्त हो उस उस कार्य का उपदेश के बल पर बाध हो जाय तो सन्ध्यक्षरों को आय् आदि आदेश भी न हो सकेंगे। यह कोई दोष नहीं। जिस विधि के होने से उपदेश अनर्थक होता हो उस विधि का बाध होता है। जिस विधिका सन्ध्यक्षर निमित्त ही हो उसका बाध क्यों कर हो ? गुण के प्रति (यदि गुण हो जाय) उपदेश अनर्थक हो जाता है, आय् आदि आदेशों का तो वह निमित्त ही है।

यह जो कहा गया है कि जन् धातु से 'ड' विधान करना इस बात का ज्ञापक है कि व्यञ्जन को गुण नहीं होता, (सो यह भी ज्ञापक नहीं) (प्रकारान्तर से) कार्य सिद्धि होते हुए जो विधि आरम्भ की जाती है वह (व्यर्थ होने से) ज्ञापक होती है। जन् को गुण करने से तो इष्टरूप सिद्ध नहीं होता। इसमें क्या हेतु है कि जन् के नकार के स्थान में 'अ' गुण हो, 'ए' अथवा 'ओ' न हो ? (उत्तर) आन्तरतम्य से अर्धमात्रिक व्यञ्जन के स्थान में एकमात्रिक 'अ' ही होना उचित है (द्विमात्रिक 'ए' 'ओ' नहीं)। पर अनुनासिक 'न्' के स्थान में अनुनासिक अँ होगा। (कोई हर्ज नहीं, 'अतो गुणे' से) पर-रूप होने (पर = शुद्ध प्रत्यय का 'अ' ही रूप होने) से शुद्ध अकार मिल जायगा। अच्छा यदि यह बात है (तो भी ज्ञापक नहीं बन सकता) यह 'ड' उत्तरत्र अनुवृत्ति के लिये सार्थक है। अन्येष्वपि दृश्यते इस वचन से गम् से भी 'ड' विधान किया जाता है। यदि गम् को गुण विधान किया जाय तो स्थान के आन्तरतम्य से (ओष्ठ्य होने से) 'म्' के स्थान में 'ओ' होगा। अतः इक् ग्रहण करना चाहिये।

यदीग्ग्रहणं क्रियते द्यौः, पन्थाः, सः, इमम् इति, एतेऽपीकः प्राप्नुवन्ति।

संज्ञया विधाने नियमः ॥

संज्ञया ये विधीयन्ते तेषु नियमः।

किं वक्तव्यमेतत्। न हि। कथमनुच्यमानं गंस्यते। गुणवृद्धिग्रहणसामर्थ्यात्[१]। कथं पुनरन्तरेण[२] गुणवृद्धिग्रहणमिको गुणवृद्धी स्याताम्। प्रकृतं गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते। क्व[३] प्रकृतम्। "वृद्धिरादैजदेङ् गुणः" इति। यदि

यदि इक् ग्रहण किया जाता है तो 'दिव औत्' (७।१।८४) दिव के इक् के स्थान में औ (वृद्धि) होनी चाहिये, "पथिमथ्यृभुक्षामात्" (७।१।८५) से पथिन् के इक् के स्थान में औ (वृद्धि) होनी चाहिये, "त्यदादीनामः" (७।२।१०२) से तद् में इक् न होने से 'अ' (गुण) न हो सकेगा, तथा 'इदम्' के द्वितीया एकवचन में भी।

(वा०) जहाँ गुण वृद्धि शब्द उच्चारण करके गुण वृद्धि का विधान है वहाँ इक् के स्थान में वे गुण वृद्धि हों ऐसा नियम है।

संज्ञापूर्वक जो गुण वृद्धि विधान किये जाते हैं उनमें यह नियम है।

क्या इस वार्तिक-रूप वचन के कहने की आवश्यकता है? नहीं। बिना वचन किये इस नियम का कैसे बोध होगा? इस सूत्र में 'गुणवृद्धि' ग्रहण के बल पर। पर यहाँ सूत्र में गुणवृद्धि ग्रहण न करें (अर्थात् 'इकः' इतना ही सूत्र पढ़ें) तो इक् के स्थान में गुणवृद्धि हों इस विधेय का लाभ कैसे होगा? गुणवृद्धि का अधिकार (प्रस्ताव, प्रारम्भ) है सो इस सूत्र में 'गुण-वृद्धि' की अनुवृत्ति आती है (उस से)। वह कौन सा अधिकार है? वृद्धिरादैच्, अदेङ् गुणः। (यह सूत्र-द्वय)।

---

१. पूर्व सूत्रों से गुण वृद्धि की अनुवृत्ति आने से गुणवृद्धि इक् के स्थान में होंगे, तो यहाँ सूत्र में गुणवृद्धि ग्रहण किसलिये किया! इसलिये कि जहाँ गुणवृद्धि-शब्दोच्चारण पूर्वक (गुणहो, वृद्धिहो) अदेङ्, आदैच् का विधान है वहाँ वह इक् के स्थान में हो। (अन्यत्र नियम नहीं। वहाँ अनिक् के स्थान में भी गुणवृद्धि होने में कोई बाधा नहीं।)

२. इस प्रश्न का उत्थान इस तरह होता है—जब प्रकृतसूत्र में गुणवृद्धि शब्द संज्ञापूर्वक विधान में इक्का नियमन करने में चरितार्थ=क्षीणशक्तिक हो गये तब गुणवृद्धि का विधान कैसे होगा। अर्थात् उसके लिये अतिरिक्त गुणवृद्धि शब्द चाहिये।

३. पूर्व सूत्र 'वृद्धिरादैच्' में 'वृद्धि' शब्द जैसे स्वरूपपदार्थक है (संज्ञापरक है) वैसे ही अदेङ् गुणः में अनुवृत्त हुआ हुआ भी। यहाँ अर्थाधिकार का आश्रयण है, शब्दाधिकार का नहीं।

तदनुवर्तते अदेङ्गुणो वृद्धिश्च इत्यदेङां वृद्धिसंज्ञापि प्राप्नोति । सम्बन्ध[1]मनुवर्तिष्यते—वृद्धिरादैच् । अदेङ्गुणः इति वृद्धिरादैच् । ततः इको गुणवृद्धी इति गुणवृद्धिग्रहणमनुवर्तते, आदैजदेङ्ग्रहणं निवृत्तम् ।

अथवा मण्डूकगतयोधिकाराः यथा मण्डूका उत्प्लुत्योत्प्लुत्य गच्छन्ति तद्वदधिकाराः ।

अथवैकयोगः करिष्यते—वृद्धिरादैजदेङ्गुणः, तत इको गुणवृद्धी इति । न चैकयोगेऽनुवृत्तिर्भवति ।

अथवा अन्यवचनाच्चकाराकरणाच्च प्रकृतापवादो विज्ञायते, यथोत्सर्गेण प्रसक्तस्यापवादो बाधको भवति । अन्यस्याः संज्ञाया वचनाच्चकारस्य चानुकर्षणार्थस्याकरणात्प्रकृताया वृद्धिसंज्ञाया गुणसंज्ञा बाधिका भविष्यति । यथोत्सर्गेण प्रसक्तस्यापवादो बाधको भवति ।

यदि ऐसा है तो "अदेङ् गुणः" में 'वृद्धि' की अनुवृत्ति होने से अदेङ् की वृद्धिसंज्ञा भी प्रसक्त होती है । सम्बध्यमान (जिस का आगे सम्बन्ध जुड़ता है) की अनुवृत्ति होगी । पहले वृद्धिरादैच्, तदनन्तर अदेङ् गुणः, तदनन्तर अनुवृत्त सूत्र वृद्धिरादैच्, तब इको गुणवृद्धी—इसमें केवल गुणवृद्धि की अनुवृत्ति होगी, आदैच् अदेङ् की निवृत्ति हो जायगी ।

अथवा अधिकार मेंढक की चाल चलते हैं, जैसे मेंढक उछल-उछल कर (थोडा-थोड़ा अवकाश छोड़कर पदन्यास करते हुए) चलते हैं, ऐसे ही अधिकार (अर्थात् वृद्धि शब्द वृद्धिरादैच् सूत्र से चलकर बीच में आये अदेङ्गुणः को फांद कर इस प्रकृत सूत्र इको गुणवृद्धी में आजाता है, गुण शब्द अनन्तरपूर्व सूत्र से चला आता है)।

अथवा वृद्धिरादैच् और अदेङ् गुणः को एकसूत्र के रूप में पढ़ा जायगा, तब इको गुणवृद्धी इसे पढ़ देंगे । एक योग में अनुवृत्ति का झञ्झट ही नहीं ।

अथवा अन्य संज्ञा (गुणसंज्ञा) कहने से और पूर्वसूत्र में कही हुई संज्ञा (वृद्धिसंज्ञा) के अनुकर्षण (आगे को खेंच लाने) के लिये चकार न पढ़ने से प्रकृत वृद्धि संज्ञा को गुण संज्ञा बाध लेगी, जिस प्रकार उत्सर्ग से प्राप्त हुए कार्य का अपवाद बाधक होता है ।

---

१. सम्बध्यत इति सम्बन्धं कर्मणि घञ् । आदैच् का संज्ञाभूत वृद्धि शब्द "अदेङ् गुणः" यहाँ अनुवृत्त हो रहा है, यतः अदेङ् के साथ इस का सम्बन्ध बनता नहीं, अतः अनुवृत्त हुआ आदैच् को छोड़ देता है, जैसे कान्तार (महारण्य) के पार करने के लिये सार्थ का उपादान और पार करने पर उस का परित्याग ।

अथवा वक्ष्यत्येतद्—'अनुवर्तन्ते च नाम विधयः। न चानुवर्तनादेव भवन्ति। किन्तर्हि यत्नाद्भवन्ती'ति।

अथवा उभयं निवृत्तम्—तदपेक्षिष्यामहे॥

किं पुनरयमलोन्त्यशेषः, आहोस्विदलोन्त्यापवादः। कथं चायं तच्छेषः स्यात्, कथं वा तदपवादः।

यद्येकं वाक्यम् – तच्चेदं च, अलोन्त्यस्य विधयो भवन्ति, इको गुणवृद्धी अलोन्त्यस्य इति। ततोयं तच्छेषः। अथ नानावाक्यम्—तच्चेदं च-अलोन्त्यस्य विधयो भवन्ति, इको गुणवृद्धी अन्त्यस्य चानन्त्यस्य च इति। ततोऽयं तदपवादः।

कश्चात्र विशेषः।

वृद्धिगुणावलोन्त्यस्येति चेन्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधच्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणम्॥

वृद्धिगुणावलोन्त्यस्येति चेन्मिदिमृजि पुगन्तलघूपधच्छिदृशि क्षिप्रक्षुद्रे-

---

अथवा (आचार्य गोनर्दीय) विभाषा तिलमाषोमाभङ्गाणुभ्यः (५।२।४) में कहेंगे—पूर्वविधिवाक्यों की उत्तर विधिवाक्यों में अनुवृत्ति होती है, पर अनुवृत्ति मात्र से उन का सम्बन्ध नहीं बन जाता, जब तक सम्बन्ध-स्थापन के लिये यत्नविशेष न किया जाय। वहाँ विभाषा ग्रहणरूप यत्न है और प्रकृत सूत्र में पुनः गुणवृद्धि ग्रहणरूप यत्न है।

अथवा वृद्धिरादैच् तथा अदेङ्गुणः इन दोनों की स्वरितादिलिङ्ग के अभाव में निवृत्ति हो गई अब अपेक्षा-लक्षण लौकिक अधिकार का आश्रयण करेंगे॥

अब यह विचार का विषय है कि क्या यह 'इको गुणवृद्धी' 'अलोन्त्यस्य' का शेष है अथवा 'अलोन्त्यस्य' का अपवाद है।

यह किस प्रकार उसका शेष हो सकता है, और किस प्रकार उसका अपवाद?

यदि (वह और यह) ये दोनों मिल कर एक वाक्य बनायें। षष्ठीनिर्दिष्ट के अन्त्य अल् को विधियाँ होती हैं, 'इको गुणवृद्धी' को इसके साथ मिला कर इस प्रकार का एक वाक्य होगा—अन्त्य अल् इक् को गुण वृद्धि होते हैं। अब 'इको गुणवृद्धी' 'अलोन्त्यस्य' का शेष (अङ्ग) हो जाता है। यदि भिन्न-भिन्न दो वाक्य रहें—अन्त्य अल् के स्थान में विधियाँ होती हैं, इक् के स्थान में गुण वृद्धि होते हैं चाहे वह इक् अन्त्य हो अथवा अनन्त्य। तब यह 'अलोन्त्यस्य' का अपवाद हो जाता है।

इसमें क्या अन्तर है?

(वा०) यदि वृद्धि और गुण अन्त्य अल् इक के स्थान में होते हैं तो मिद्,

क्षिप्रग्रहणं कर्तव्यम् । मिदेर्गुणः इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति । मृजेर्वृद्धिः इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति । पुगन्तलघूपधस्य गुणः इक इति वक्तव्यम् अनन्त्याद्धि न प्राप्नोति । ऋच्छेर्लिटि गुणः इक इति वक्तव्यम् वअनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति । ऋदृशोऽङि गुणः इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति । क्षिप्रक्षुद्रयोर्गुणः इक इति वक्तव्यम् । अनन्त्यत्वाद्धि न प्राप्नोति ।

सर्वादेश प्रसङ्गश्चानिगन्तस्य ॥

सर्वादेशश्च गुणोऽनिगन्तस्य प्राप्नोति याता वाता । किं कारणम् । "अलोन्त्यस्य" इति षष्ठी चैव ह्यन्त्यमिकमुपसंक्रान्ता, अङ्गस्येति च स्थानषष्ठी । तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्गं तस्य गुणः सर्वादेशः प्राप्नोति ।

मृज् , पुगन्त लघूपध, ऋच्छ् , दृश् , क्षिप्र, क्षुद्र–इनके इक् को गुण हो ऐसा वचन करना पड़ेगा । 'मिदेर्गुणः'—यहाँ इक् के स्थान में गुण हो ऐसा कहना चाहिये । (इ) यहाँ अन्त्य नहीं है अतः गुण की प्राप्ति नहीं । 'मृजेर्वृद्धिः'—यहाँ इक् के स्थान में वृद्धि हो ऐसा वचन करना पड़ेगा, इक् (ऋ) यहाँ अन्त्य नहीं, अतः वृद्धि की प्राप्ति नहीं । 'पुगन्तलघूपधस्य च' पुगन्त और लघूपध को सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते गुण होता है सो अब यह न हो सकेगा, अतः इनके इक् के स्थान में गुण होता है ऐसा कहना चाहिये, इक् के अन्त्य न होने से प्राप्ति नहीं । ऋच्छ् धातु को लिट् परे रहते 'ऋच्छत्यृतां गुणः' (७।४।११) इससे गुण विधान किया गया है, वहाँ वह इसके इक् (ऋ) के स्थान में हो ऐसा कहना चाहिये, इक् (ऋ) के अन्त्य न होने से प्राप्ति ही नहीं । ऋदृशोऽङि गुणः—इससे अङ् परे होने पर दृश् को गुण विधान किया है, यहाँ इक् (ऋ) के स्थान में गुण हो ऐसा कहना चाहिये, क्योंकि इक् (ऋ) के अन्त्य न होने से प्राप्ति नहीं । क्षिप्रक्षुद्र शब्दों को (ईयस् इष्ठन् , इमनिच् प्रत्ययों के परे रहते) गुण विधान किया है, यहाँ भी इक् (इ, उ) के स्थान में गुण हो ऐसा कहना चाहिये, कारण कि इक् के अन्त्य न होने से प्राप्ति नहीं ।

(वा०) जो अङ्ग इगन्त नहीं है उस सारे के स्थान में गुण प्रसक्त होता है । जैसे याता वाता में 'या', 'वा' को गुण प्राप्त होता है ।

(इस प्राप्ति का) क्या कारण है ?

तच्छेष पक्ष में 'अलोन्त्यस्य' इस षष्ठी का अङ्ग के अन्त्य इक् के साथ सम्बन्ध हो जाता है, 'अङ्गस्य' यह स्थानषष्ठी है अब जो अनिगन्त अङ्ग है (वहाँ षष्ठी का अन्त्य अल् में उपसंहार (सम्बन्ध) न होने से) 'मिदेर्गुणः' इत्यादि में मिद् आदि समुदाय के स्थान में गुण प्राप्त होता है ।

नैष दोषः। यथैव ह्यलोन्त्यस्येति षष्ठी अन्त्यमिकमुपसङ्क्रान्ता, एवमङ्गस्येत्यपि स्थानषष्ठी। तद्यदिदानीमनिगन्तमङ्गं तत्र षष्ठ्येव नास्ति, कुतो गुणः, कुतः सर्वादेशः।

एवं तर्हि नायं दोषसमुच्चयः। किं तर्हि। पूर्वापेक्षोयं दोषः। ह्यर्थे चायं चः पठितः—मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणं सर्वादेशप्रसङ्गो ह्यनिगन्तस्य इति।

मिदेर्गुणः इक इति वचनादन्त्यस्य न, अलोन्त्यस्य इति वचनादिको न। उच्यते च गुणः। स सर्वादेशः प्राप्नोति। एवं सर्वत्र॥

अस्तु तर्हि तदपवादः।

इङ्मात्रस्येति चेज्जुसि सार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्वनन्त्यप्रतिषेधः॥

इङ्मात्रस्येति चेज्जुसि सार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्वनन्त्यप्रति-

---

यह कोई दोष नहीं। जिस प्रकार अलोन्त्यस्य यह षष्ठी अन्त्य इक् में उपसंहृत हो जाती है (इक् के साथ जुड जाती है,) इसी प्रकार 'अङ्गस्य' यह स्थान षष्ठी भी अन्त्य इक् में उपसंहृत हो जाती है। अब जो अनिगन्त अङ्ग है वहाँ षष्ठी (अर्थात् अन्त्य इक् में उपसंहृत षष्ठी) ही नहीं है, तो तच्छेष पक्ष में गुण की भी प्राप्ति नहीं रहती, सर्वादेश का तो क्या कहना।

तो यहाँ पूर्व दोष से भिन्न एक और दोष दिया है, ऐसा नहीं। तो कैसे है? पूर्व निर्दिष्ट दोष में यह हेतुकथन है। 'चकार' यहाँ 'हि' (हेतु) अर्थ में पढ़ा है। इन दोनों वार्तिकों को एक वाक्य के रूप में इस प्रकार पढ़ना चाहिये—मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्च्छि-दृशिक्षिप्रक्षुद्रेष्विग्ग्रहणं सर्वादेशप्रसङ्गोह्यनिगन्तस्य।

मिदेर्गुणः, यहाँ जो गुण विधान किया है वह 'गुण वृद्धि इक् के स्थान में होते हैं', इस वचन से अन्त्य 'द्' के स्थान में नहीं हो सकता, षष्ठी निर्दिष्ट के अन्त्य अल् के स्थान में कार्य होता है इस वचन से इक् के स्थान में नहीं होता। पर आचार्य ने गुण-विधान किया है, (शास्त्र व्यर्थ न हो) इसलिये वह सारे मिद् रूप अङ्ग के स्थान में होगा, इसी प्रकार मृज् आदि के विषय में जानो। (अतः यह व्यवस्थित हुआ कि इक् का ग्रहण करना चाहिये)।

अच्छा तो यह 'अलोन्त्यस्य' का अपवाद हो।

(वा०) यदि इक् मात्र (अन्त्य अथवा अनन्त्य इक्) को गुण वृद्धि होते हैं (यही अपवाद पक्ष है) तो जुस् परे रहते गुण, सार्वधातुक-आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते गुण, ह्रस्वादियों को गुण, उ को गुण—इन विधियों में अनन्त्य इक् को भी

षेधो वक्तव्यः। जुसि गुणः—स यथेह भवति अजुहवुः अबिभयुः इति। एवम् अनेनिजुः पर्यवेविषुः अत्रापि प्राप्नोति। सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणः—स यथेह भवति—कर्ता हर्ता नयति तरति इति। एवम् ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम् इत्यत्रापि प्राप्नोति। ह्रस्वस्य गुणः—स यथेह भवति–हे अग्ने हे वायो इति। एवं हे अग्निचित् हे सोमसुद् इत्यत्रापि प्राप्नोति। जसि गुणः–स यथेह भवति–अग्नयो वायव इति। एवम् अग्निचितः सोमसुत इत्यत्रापि प्राप्नोति। ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोर्गुणः—स यथेह भवति–कर्तरि कर्तारौ कर्तार इति। एवं सुकृति सुकृतौ सुकृत इत्यत्रापि प्राप्नोति। घेर्ङिति गुणः–स यथेह भवति–अग्नये वायवे इति। एवम् अग्निचिते सोमसुते इत्यत्रापि प्राप्नोति। ओर्गुणः–स यथेह भवति वाभ्रव्यो माण्डव्य इति। एवं सुश्रुत् सौश्रुत इत्यत्रापि प्राप्नोति॥

गुण प्राप्त होता है उसका प्रतिषेध करना चाहिये।

जुस् प्रत्यय परे रहते (जुसि च ७।३।८३ से) जैसे अजुहवुः, अबिभयुः में अन्त्य इक् को गुण होता है, वैसे ही अनेनिजुः, पर्यवेविषुः में अनन्त्य इक् को भी होने लगेगा।

सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते कर्ता हर्ता नयति तरति में अन्त्य इक् को गुण होता है वैसे ही ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम् में अनन्त्य इक् को भी होने लगेगा।

ह्रस्व को गुण जैसे हे अग्ने, हे वायो में अन्त्य इक् को होता है वैसे ही हे अग्निचित् हे सोमसुत् में अनन्त्य इक् (चित् में इ, सुत् में उ) को भी होने लगेगा।

जस् प्रत्यय परे रहते जैसे अग्नयः, वायवः में अन्त्य इक् को गुण होता है वैसे ही अग्निचितः सोमसुतः में अनन्त्य इक् को भी होने लगेगा।

"ऋतो ङिसर्वनामस्थानयोः" (७।३।११०) इस सूत्र से विहित गुण जैसे कर्तरि कर्तारौ कर्तारः में अन्त्य इक् (ऋ) को होता है वैसे ही सुकृति सुकृतौ सुकृतः में अनन्त्य इक् को भी होने लगेगा।

घेर्ङिति (७।३।१११) इस सूत्र से जैसे 'अग्नये' 'वायवे' में अन्त्यइक् (उ) को गुण होता है वैसे ही अग्निचिते सोमसुते में अनन्त्य इक् (चित् में इ, तथा सुत् में उ) को भी होने लगेगा।

ओर्गुणः (६।४।१४६)—इस सूत्र से भसंज्ञक के 'उ' को जैसे बाभ्रव्यः, माण्डव्यः में (जहाँ उ अन्त्य है) गुण होता है वैसे ही सुश्रुत् सौश्रुत में अनन्त्य इक को भी गुण होने लगेगा।

नैष दोषः।

पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थम् ॥

पुगन्तलघूपधग्रहणमनन्त्यनियमार्थं भविष्यति। पुगन्तलघूपधस्यैवानन्त्यस्य नान्यस्यानन्त्यस्येति।

प्रकृतस्यैव नियमः स्यात्। किं च प्रकृतम्। सार्वधातुकार्धधातुकयोः इति। तेन भवेदिह नियमान्न स्याद् ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम् इति। ह्रस्वाद्योर्गुणस्त्वनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति।

अथाप्येवं नियमः स्यात्--पुगन्तलघूपधस्य सार्वधातुकार्धधातुकयोरेवेति। एवमपि सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणोऽनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति--ईहिता ईहितुम् ईहितव्यमिति।

अथाप्युभयतो नियमः स्यात्--पुगन्तलघूपधस्यैव सार्वधातुकार्धधातुकयोः। सार्वधातुकार्धधातुकयोरेव पुगन्तलघूपधस्येति। एवमप्ययं जुसि गुणोऽनियतः, सोऽनन्त्यस्यापि प्राप्नोति अनेनिजु[1]ः पर्यवेविषुः इति।

यह कोई दोष नहीं।

(वा०) पुगन्तलघूपध ग्रहण अनन्त्य के नियम के लिये होगा। यदि अनन्त्य इक् को गुण हो तो पुगन्त और लघूपध अङ्ग के ही अनन्त्य इक् को हो और किसी अनन्त्य इक् को नहीं (ऐसा नियम होगा)।

पर नियम प्रकृत का ही होगा।

क्या प्रकृत है?

सार्वधातुकार्धधातुकयोः (७।३।८४)। इस से हो सकता है कि ईहिता, ईहितुम् ईहितव्यम् में नियम की प्रवृत्ति होने से गुण न हो, पर (ह्रस्वस्य गुणः इत्यादि शास्त्र से) ह्रस्वादियों को जो गुण-विधान है उसका नियम न होने से वह अनन्त्य इक् को भी होने लगेगा।

नियम इस प्रकार भी हो सकता है—पुगन्तलघूपधको यदि गुण हो तो सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते ही हो। इस तरह भी सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे रहते जो गुण विधि है उस का नियम न होगा। वह गुण अनन्त्य इक् के स्थान में भी होने लगेगा अर्थात् ईहिता ईहितुम् ईहितव्यम् में गुण का प्रसङ्ग होगा।

अथवा दोनों प्रकार का नियम होगा--पुगन्तलघूपधको ही सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय परे होने पर, पुगन्तलघूपध को गुण होता है सार्वधातुक आर्धधातुक

---

१. 'अनेनिजुः' में लघूपध अङ्ग है और सार्वधातुक प्रत्यय भी है, तो अनन्त्य इक् को भी गुण की प्राप्ति है।

एवं तर्हि—नायं तच्छेषः, नापि तदपवादः। अन्यदेवेदं परिभाषान्तरमसम्बद्धमनया परिभाषया।

परिभाषान्तरमिति च मत्वा क्रोष्ट्रीयाः पठन्ति —

नियमादिको गुणवृद्धी भवतो[3] विप्रतिषेधेन॥इति।

यदि चायं तच्छेषः स्यात्तेनैव तस्यायुक्तो विप्रतिषेधः। अथापि तदपवादः, उत्सर्गापवादयोरप्ययुक्तो विप्रतिषेधः। तत्र नियमस्या[4]वकाशः—"राज्ञः क च" राजकीयम्। "इको गुणवृद्धी" इत्यस्यावकाशः--चयनं चायको लवनं लावक इति। इहोभयं प्राप्नोति--मेद्यति मार्ष्टीति। इको गुणवृद्धी इत्येतद्भवति विप्रतिषेधेन।

प्रत्यय परे होने पर ही। ऐसा होने पर भी जुस् प्रत्यय परे रहते गुण का नियम न होगा। वह अनन्त्य इक् को होने लगेगा।

अतः (दोनों पक्षों में दोष होने से) न तो यह उसका शेष है और न अपवाद। यह एक स्वतन्त्र परिभाषा है जो अलोन्त्यपरिभाषा से कुछ सम्बन्ध नहीं रखती।

(इस पक्ष में क्रोष्ट्रीय लोगों का समर्थन भी प्राप्त है)। क्रोष्ट्रीय लोग इसे परिभाषान्तर (स्वतन्त्र परिभाषा) मानकर ऐसा (विप्रतिषेध वार्तिक) पढ़ते हैं—

नियम (अलोन्त्यस्य) को बाधकर विप्रतिषेध से "इको गुणवृद्धी" शास्त्र की प्रवृत्ति होती है।

यदि यह 'इको गुणवृद्धी' उसका शेष हो, तो उसी के साथ इसका विप्रतिषेध (तुल्य बल विरोध) युक्त न होगा। और यदि यह उसका अपवाद है, तो भी उत्सर्ग और अपवाद का विप्रतिषेध अयुक्त है। नियम (अलोन्त्यस्य) का अवकाश है—राज्ञःक च (राजन् से 'छ' प्रत्यय हो और अन्त्य अल् 'न्' को ककारादेश हो)—सिद्धरूप हुआ—राजकीयम्। 'इको गुणवृद्धी' इसका अवकाश है चयनं चायकः लवनं लावकः। यहाँ दोनों की प्राप्ति है—मेद्यति मार्ष्टि। 'इको गुणवृद्धी' इसकी प्रवृत्ति होती है

---

१. परिभाषान्तरम्—अन्त=विशेष। अतः अन्यत् भी कहा और अन्तर भी। पर्यायवचन न होने से दोनों के एक साथ प्रयोग में कोई विरोध नहीं।

२. असम्बद्धम्=न तो इन परिभाषाओं में शेष-शेषिभाव (अङ्गाङ्गिभाव, गुणप्रधान-भाव) है और न उत्सर्गापवाद-भाव है।

३. विधेय (गुण वृद्धि) के द्वित्व का सूत्र में आरोप करके 'भवतः' में द्विवचन का प्रयोग किया गया है।

४. पूर्वाचार्य 'अलोन्त्यस्य' को नियम-नाम से कहते हैं।

५. अलोन्त्यपरिभाषा का यहाँ कुछ फल न होने से उसकी उपस्थिति नहीं ऐसा आशय है।

नैष युक्तो विप्रतिषेधः । "विप्रतिषेधे परम्" इत्युच्यते । पूर्वश्चायं योगः, परो नियमः ।

इष्टवाची पर शब्दः । विप्रतिषेधे परं यदिष्टं तद्भवतीति । एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । द्विकार्ययोगो हि विप्रतिषेधः । न चात्रैको द्विकार्ययुक्तः । नावश्यं द्विकार्ययोग एव विप्रतिषेधः । किंतर्हि । असम्भवोपि । स चास्त्यत्रासंभवः । को सावसंभवः । इह तावद् वृत्तेभ्यः सृत्तेभ्य इति । एकः स्थानी, द्वावादेशौ, न चास्ति संभवः यदेकस्य स्थानिनो द्वावादेशौ स्याताम् । इहेदानीं--मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति इति द्वौ स्थानिनौ, एकादेशः, न चास्ति संभवः । द्वयोः स्थानिनोरेक आदेश स्यादित्येषोऽसम्भवः । सत्येतस्मिन्नसम्भवे युक्तो विप्रतिषेधः ।

विप्रतिषेध से ।

यह विप्रतिषेध युक्त नहीं । विप्रतिषेध होने पर परशास्त्र प्रवृत्त होता है, यह सूत्र ('इको गुणवृद्धी') तो पूर्व है, और नियम (अलोन्त्यस्य) पर है ।

'पर' शब्द इष्टवाची है । विप्रतिषेध होने पर 'पर' जो इष्टरूप का साधक है वह होता है ।

तो भी यहाँ विप्रतिषेध युक्त नहीं । स्थानी का दो कार्यों के साथ योग होना विप्रतिषेध कहलाता है । यहाँ तो एक स्थानी को दो कार्यों के साथ योग (दो कार्यों की प्राप्ति) नहीं है ।

यह कोई नियम नहीं कि दो कार्यों की युगपत् प्राप्ति ही विप्रतिषेध होता है । तो क्या ? असम्भव भी विप्रतिषेध होता है । वह असंभव यहाँ है । वह असम्भव किं-स्वरूप है ? इसका प्रथम निदर्शन है--वृत्तेभ्यः, सृत्तेभ्यः । यहाँ 'सुपि च' से यञादि प्रत्यय 'भ्यस्' परे होने पर अदन्त अङ्गरूप स्थानी को दीर्घ प्राप्त होता है और 'बहुवचने झल्येत्' से उसी को 'ए' प्राप्त होता है । यह सम्भव नहीं कि एक स्थानी को दो आदेश हों । द्वितीय निदर्शन है--मेद्यति मेद्यतः मेद्यन्ति-यहाँ दो स्थानी हैं, एक आदेश है ('इको गुणवृद्धी' से मिद् का 'इ' स्थानी है और 'अलोन्त्यस्य' से मिद् का द् स्थानी है । यह संभव नहीं कि दो स्थानियों को एक आदेश हो । सो इस प्रकार के असम्भव के होने से विप्रतिषेध युक्त ही है ।

---

१. द्विकार्ययोगः—यह बहुव्रीहि है । द्वाभ्यां कार्याभ्यां योगो यस्य स्थानिनः स द्विकार्ययोगः । इसका 'विप्रतिषेध' के साथ सामानाधिकरण्य इस तरह से हुआ कि विप्रतिषेध का विषय होने से 'स्थानी' को ही 'विप्रतिषेध' कह दिया है ।

२. एक साथ दो आदेश न हो सकने में हेतु यह है कि 'अ' को 'दीर्घत्व' अनन्त यञ् परे होने पर विहित है और 'एत्व' अनन्तर झल् परे होने पर अब यह संभव नहीं कि इन दोनों कार्यों का अपने अपने निमित्त के साथ आनन्तर्य हो ।

एवमप्ययुक्तो विप्रतिषेधः । द्वयोर्हि सावकाशयोः समवस्थितयोर्विप्रतिषेधो भवति । अनवकाशश्चायं योगः ।

ननु चेदानीमेवास्यावकाशः प्रक्लृप्तः चयनं चायको लवनं लावक इति । अत्रापि नियमः प्राप्नोति । नाप्राप्ते नियमेऽयं योग आरभ्यते । यावता च नाप्राप्ते नियमेऽयं योग आरभ्यते, ततस्तस्यापवादोऽयं योगो भवति । उत्सर्गापवादयोश्चायुक्तो विप्रतिषेधः । अथापि कथंचिद् "इको गुणवृद्धी" इत्यस्यावकाशः स्यात्, एवमपि यथेह विप्रतिषेधादिको गुणो भवति मेद्यति मेद्यतः मेद्यन्ति इति, एवमिहापि स्यात्—अनेनिजुः पर्यवेविषुरिति ॥

एवं तर्हि वृद्धिर्भवति गुणो भवतीति यत्र ब्रूयाद् इक इत्येतत्तत्रोपस्थितं द्रष्टव्यम् । किं कृतं भवति । द्वितीया षष्ठी प्रादुर्भाव्यते । तत्र कामचारः, गृह्यमाणेन वेकं विशेषयितुम्, इका वा गृह्यमाणम् । यावता कामचारः, इह ताव-

---

ऐसा होने पर भी विप्रतिषेध अयुक्त ही है, कारण कि अपने-अपने विषय में सावकाश (चरितार्थ) एकत्र युगपत्प्राप्त दो विधिशास्त्रों का विप्रतिषेध होता है। यह योग (इको गुणवृद्धी) तो अनवकाश है (इसका 'अलोन्त्य-' से अनवरुद्ध (न घिरा हुआ) स्वतन्त्र विषय नहीं है) ।

अजी अभी अभी इसका अवकाश दिखाया गया है—चयनं चायकः, लवनं लावकः । यहाँ भी 'अलोन्त्यस्य' की प्राप्ति है । इसकी प्राप्ति होनेपर ही 'इको गुणवृद्धी' इस सूत्र का आरम्भ होता है । चूँकि 'अलोन्त्यस्य' की प्राप्ति होने पर ही इसका आरम्भ होता है अतः 'येन नाप्राप्ते यो विधिरारभ्यते स तस्य बाधको भवति' इस न्याय से यह 'इको गुणवृद्धी' 'अलोन्त्यस्य' का अपवाद ठहरता है और उत्सर्ग और अपवाद का विप्रतिषेध युक्त नहीं । और यदि किसी प्रकार (ज्यों त्यों अर्थात् 'अलोन्त्यस्य' की प्रवृत्ति का कुछ फल न होने से उसकी अप्रवृत्ति मानकर) 'इको गुणवृद्धी' इसका स्वतन्त्र अवकाश मिल जाय, तो भी जैसे पूर्व विप्रतिषेध से मेद्यति, मेद्यतः, मेद्यन्ति में 'इक्' को गुण होता है, वैसे ही अनेनिजुः, पर्यवेविषुः में भी 'इक्' को गुण होने लगेगा ।

(अब सिद्धान्त पक्ष कहते हैं) तो ऐसा समझना चाहिये कि जहाँ सूत्रकार यह कहे वृद्धि हो, गुण हो, वहाँ 'इकः' यह पद उपस्थित हो जाता है (इसे पदोपस्थिति पक्ष कहते हैं) ऐसा समझना चाहिये ।

इससे क्या होता है?

एक दूसरा षष्ठ्यन्त पद उपस्थित हो जाता है । ऐसा होनेपर यह स्वेच्छाचार है कि चाहे हम गृह्यमाण (सूत्र में पढ़े हुए षष्ठ्यन्त) पद को विशेषण मानकर 'इक्' को उसका विशेष्य मानें, अथवा इक् को विशेषण तथा गृह्यमाण षष्ठ्यन्त पद

न्मिदिमृजिपुगन्तलघूपधर्छिदृशिक्षिप्रक्षुद्रेषु गृह्यमाणमेकं विशेषयिष्यामः—एतेषां य इगिति। इहेदानीं जुसि सार्वधातुकार्धधातुकह्रस्वाद्योर्गुणेष्विका गृह्यमाणं विशेषयिष्यामः—एतेषां गुणो भवति, 'इकः' इगन्तानामिति।

अथवा सर्वत्रैवात्र स्थानी निर्दिश्यते। इह तावन्मिदेरित्यविभक्तिको निर्देशः, मिद् एः मिदेरिति। अथवा षष्ठीसमासो भविष्यति—मिदः इः, मिदिः, मिदेरिति।

पुगन्तलघूपधस्येति। नैवं विज्ञायते पुगन्ताङ्गस्य लघूपधस्य चेति। कथं तर्हि। पुकि अन्तः पुगन्तः, लघ्वी उपधा लघूपधा, पुगन्तश्च लघूपधा च पुगन्तलघूपधम्, पुगन्तलघूपधस्येति। अवश्यं चैतदेवं विज्ञेयम्, अङ्गविशेषणे सतीह प्रसज्येत भिनत्ति छिनत्तीति।

ऋच्छेरपि प्रश्लिष्टनिर्देशोऽयम्—ऋच्छति ऋ ॠ ऋताम् = ऋच्छत्यृताम् इति।

को विशेष्य (पहली अवस्था में 'अङ्गस्य' यह अवयव षष्ठी होगी। दूसरी अवस्था में 'अङ्गस्य' स्थानषष्ठी होगी और 'इकः' के विशेषण होने से तदन्त विधि होगी अर्थात् इगन्त अङ्ग को कार्य होगा)। इससे सर्वेष्टसिद्धि हो जायगी। मिदिमृजिपुगन्त-इत्यादि वार्तिक में पढ़े हुए शब्दों से 'इक' को विशिष्ट करेंगे, अर्थ होगा—इनका जो अवयव' इक्' उसे गुण होता है। जुसि सार्वधातुक० इत्यादि में 'इक्' से गृह्यमाण (पढ़े हुए स्थानी शब्दों) को विशिष्ट करेंगे—अर्थ होगा इनको गुण होता, इग्विशिष्ट अर्थात् इगन्तों को।

अथवा इन सबमें स्थानी का निर्देश पहले से ही हुआ है। (कैसे ?) मिद् को ही पहले लीजिये। यहाँ मिदेः में मिद् अविभक्तिक निर्देश है और एः 'इ' का षष्ठ्यन्त रूप है। अथवा 'मिदेः' यह षष्ठीसमास समझना चाहिये—मिदः इः (मिद् का इकार) मिदिः, उसका षष्ठ्यन्त रूप हुआ—मिदेः। (इस प्रकार यहाँ स्थानी इक् (इ) का स्पष्ट निर्देश है।

पुगन्तलघूपधस्य—यहाँ भी स्थानी निर्दिष्ट है (कैसे ?) 'पुगन्त और लघूपध अङ्ग का' ऐसा अर्थ नहीं, किन्तु पुक् परे होनेपर पुक् आगम वाले अङ्ग के अवयव का लघ्वी उपधा (जहाँ विशेषणविशेष्य समास है), पीछे पुगन्तश्च लघूपधा च इन दोनों का समाहार द्वन्द्व 'पुगन्तलघूपधम्' ऐसा हुआ। उसका षष्ठ्यन्तरूप है 'पुगन्तलघूपधस्य'। अवश्य ऐसा विग्रह समझना चाहिये, कारण कि यदि 'लघूपध' अङ्ग का विशेषण हो तो 'भिनत्ति' 'छिनत्ति' में भी गुण प्रसक्त होगा।

ऋच्छि (धातु) में भी स्थानी का प्रश्लेष से निर्देश है—ऋच्छति ऋ ॠ ऋताम्=ऋच्छत्यृताम्।

दृशेरपि योगविभागः करिष्यते—"उरङि गुणः" उः अङि गुणो भवति। ततो "दृशेः" दृशेश्चाङि गुणो भवति। उरित्येव।

क्षिप्रक्षुद्रयोरपि "यणादिपरं गुणः" इतीयता सिद्धम्। सोऽयमेवं सिद्धे सति यत्पूर्वग्रहणं करोति तस्यैतत्प्रयोजनम्—इको यथा स्यादनिको मा भूदिति।

अथ वृद्धिग्रहणं किमर्थम्। किं विशेषेण वृद्धिग्रहणं चोद्यते न पुनर्गुण-ग्रहणमपि। यदि किञ्चिद्गुणग्रहणस्य प्रयोजनमस्ति, वृद्धिग्रहणस्यापि तद्भ-वितुमर्हति। को वा विशेषः।

अयमस्ति विशेषः। गुणविधौ न क्वचित्स्थानी निर्दिश्यते तत्रावश्यं स्थानिनिर्देशार्थं गुणग्रहणं कर्तव्यम्। वृद्धिविधौ पुनः सर्वत्रैव स्थानी निर्दि-श्यते "अचोञ्णिति" "अत उपधायाः" "तद्धितेष्वचामादेः" इति।

अत उत्तरं पठति—

दृशि (दृश् धातु) के विषय में योग विभाग से स्थानी की लब्धि हो जायगी 'ऋदृशोऽङि गुणः' इस सूत्र का इस प्रकार विभाग करेंगे—उरङि गुणः ऋ को अङ् प्रत्यय परे रहते गुण होता है)। तब पढ़ेंगे दृशेश्चाङि गुणः। इसमें पूर्व योग से 'ऋ' की अनुवृत्ति आयगी अर्थ होगा—दृश् को अङ् परे रहते गुण होता है और वह उसके ऋ को ही।

'स्थूलदूरयुवह्रस्वक्षिप्रक्षुद्राणां यणादिपरं पूर्वस्य च गुणः' (६।४।१५६) यहाँ भी क्षुद्र और क्षिप्र के विषय में स्थानी का निर्देश किया हुआ है। यहाँ 'यणादिपरं गुणः' ऐसा न्यास करने से भी लोप और (उ, इ को) गुण हो जाते, फिर जो 'पूर्व' ग्रहण किया है उसका प्रयोजन यह है कि गुण 'इक्' को हो, इक् से भिन्न (व्यञ्जन) को न हो।

अब यह विचार का विषय है कि 'इको गुणवृद्धी' में 'वृद्धि' ग्रहण का क्या प्रयोजन है। यह प्रश्न 'वृद्धि' ग्रहण के विषय में ही क्यों करते हो गुण ग्रहण के विषय में भी क्यों नहीं करते? यदि सूत्र में गुण ग्रहण का कुछ प्रयोजन है, (ऐसा समझते हो) वही वृद्धि ग्रहण का भी हो सकता है। अथवा इनमें क्या अन्तर है?

यह अन्तर है—गुण विधि में स्थानी का निर्देश किसी स्थल में हुआ है किसी में नहीं भी हुआ। वहाँ स्थानी (इक्) के निर्देश के लिये गुण ग्रहण अवश्य ही करना चाहिये। वृद्धि विधि में तो स्थानी प्रायः सर्वत्रनिर्दिष्ट है—जैसे 'अचोञ्णिति' (७।२।११५) 'अत उपधायाः' (७।२।११६), 'तद्धितेष्वचामादेः' (७।२।११७) में सो वृद्धि ग्रहण के विषय में प्रश्न युक्त ही है।

इसका उत्तर वार्तिककार पढ़ते हैं—

वृद्धिग्रहणमुत्तरार्थम् ॥

वृद्धिग्रहणं क्रियते। किमर्थम्। उत्तरार्थम्। "क्ङिति" इति प्रतिषेधं वक्ष्यति। स वृद्धेरपि यथा स्यात्।

कश्चेदानीं क्ङित्प्रत्ययेषु वृद्धेः प्रसङ्गः। यावता "ञ्णिति" इत्युच्यते।

तच्च मृज्यर्थम् ॥

मृजेर्वृद्धिरविशेषेणोच्यते। सा क्ङिति मा भूत्-मृष्टः मृष्टवानिति।

इहार्थं चापि ॥

इहार्थं चापि मृज्यर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम्। मृजेर्वृद्धिरविशेषेणोच्यते। सेको यथा स्यात्, अनिको मा भूदिति।

मृज्यर्थमिति चेद्योगविभागात्सिद्धम् ॥

मृज्यर्थमिति चेद्योगविभागः करिष्यते—"मृजेर्वृद्धिरचः"। ततः

(वा०) वृद्धि ग्रहण उत्तर सूत्र में अनुवृत्ति के लिये है।

वृद्धि ग्रहण किया है। किसलिये? उत्तर सूत्र के लिये। "क्ङिति च" इससे प्रतिषेध कहेंगे, वह प्रतिषेध जैसे गुण का होता है वैसे वृद्धि का भी हो।

पर क्ङित्प्रत्यय परे रहते वृद्धि का कौन सा प्रसङ्ग (अवसर) है क्योंकि वृद्धि की प्राप्ति ञित् णित् प्रत्यय परे होने पर होती है।

(वा०) वह वृद्धि ग्रहण मृजि के लिये (मृज् धातु विषयक वृद्धि निषेध के लिये) है।

मृज् धातु को सामान्यरूप से (प्रत्यय-विशेष का आश्रयण किये बिना) वृद्धि विधान की है। वह वृद्धि क्ङित् प्रत्यय परे होने पर न हो—मृष्टः, मृष्टवान्।

(वा०) यहाँ=मृजि वृद्धि के लिये भी।

यहाँ अर्थात् "मृजेर्वृद्धिः" के लिये भी वृद्धि ग्रहण करना चाहिये। मृज् को वृद्धि सामान्यरूपेण अर्थात् (इष्ट) स्थानी का उच्चारण किये बिना विधान की गई है। वह 'इक्' को हो, इक्-भिन्न को न हो, इसलिये 'इको गुणवृद्धी' में वृद्धि ग्रहण इक् पद की उपस्थिति के लिये सफल है।

(वा०) मृज् के इक् को वृद्धि हो इसलिये वृद्धि ग्रहण किया है यदि ऐसा कहते हो तो वह तो कुछ प्रयोजन नहीं, क्योंकि योगविभाग से ही इष्ट सिद्ध हो जायगा।

मृज् के लिये यदि कहते हो, तो यहाँ योग विभाग कर लेंगे—"मृजेर्वृद्धिरचः", ऐसा एक योग पढ़ेंगे (अर्थात् अगले सूत्र का 'अचः' इस पूर्व योग के साथ

---

१. अलोन्त्य परिभाषा से अन्त्य के स्थान में वृद्धि होगी, अन्त्य यहाँ 'ज्' है—यह अभिप्राय है।

"ञ्णिति" ञिति णिति च वृद्धिर्भवति 'अचः' इत्येव।

यद्यचो वृद्धिरुच्यते, न्यमार्ट् अटोऽपि वृद्धिः प्राप्नोति।

अटि चोक्तम् ॥

किमुक्तम्। 'अनन्त्यविकारेऽन्त्यसदेशस्य कार्यं भवति' इति।

वृद्धिप्रतिषेधानुपपत्तिस्त्विक् प्रकरणात् [तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिः]

वृद्धेस्तु प्रतिषेधो नोपपद्यते। किं कारणम्। इक् प्रकरणात्। इग्लक्षणयोर्गुणवृद्ध्योः प्रतिषेधः। न चैवं सति मृजेरिग्लक्षणा वृद्धिर्भवति। तस्मान्मृजेरिग्लक्षणा वृद्धिरेषितव्या।

एवं तर्हि—इहान्ये वैयाकरणा मृजेरजादौ संक्रमे विभाषा वृद्धिमार-

---

पढ़ेंगे), इसके अनन्तर "ञ्णिति" यह पढ़ देंगे। इसमें पूर्व योग से 'अचः' की अनुवृत्ति आजायगी।

यदि यहाँ वृद्धि 'अच्' को विहित है ऐसा कहते हो तो लावस्था में ही अट् (आगम) होने पर पश्चात् अच् के स्थान में होने वाली वृद्धि 'अट्' को भी होने लगेगी।

(वा) अट् के विषय में उत्तर दिया जा चुका है। क्या?

यह न्याय है कि जब दो अनन्त्य स्थानियों को आदेश प्राप्त होता हो तो उस अनन्त्य के स्थान में आदेश हो जो अन्त्य के समीप हो। (इस से अन्त्य 'ज्' के समीपवर्ती 'ऋ' को ही वृद्धि होगी)।

(वा०) वृद्धि का प्रतिषेध तो उपपन्न नहीं होता, इक् का प्रस्ताव (प्रक्रम= प्रकरण) होने से।

वृद्धि का प्रतिषेध तो नहीं बनता। क्या कारण है? इक् प्रकरण होने से। क्ङिति शास्त्र इक्-स्थानिक गुण वृद्धि का प्रतिषेध करता है। पर ऊपर कहे हुए योग विभाग से मृज् की वृद्धि 'इग्लक्षणा' (इक् को निमित्त मान कर न होगी, अतः क्ङिति से इस अज् लक्षणा वृद्धि का निषेध न हो सकेगा। इस लिये निषेधी की सिद्धि के लिये स्थानी के लाभार्थ यहाँ इक् परिभाषा की उपस्थिति स्वीकार करनी चाहिये।

इस पर इक् परिभाषा की अनुपस्थिति सूचित करते हुए एकदेशी कहता है—पाणिनि से अतिरिक्त वैयाकरण यहाँ अर्थात् मृज् के विषय में अजादि सङ्क्रम में अर्थात् गुण-वृद्धि-प्रतिषेधक अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर विकल्प से वृद्धि

---

१. लावस्था में ही अट् करने पर अट् सहित मृज् भी मृज् ही है, अतः 'मृजेर्वृद्धिरचः' इस योग से अट् के 'अ' को भी वृद्धि होने लगेगी।

भन्ते—परिमृजन्ति परिमार्जन्ति, परिमृजन्तु परिमार्जन्तु परिममृजतुः परिममार्जतुरित्याद्यर्थम्। तदिहापि साध्यम्। तस्मिन्साध्ये योगविभागः करिष्यते "मृजेर्वृद्धिरचो" भवति। ततः "अचि क्ङिति" अजादौ च क्ङिति मृजेर्वृद्धिर्भवति। परिमार्जन्ति परिमार्जन्तु परिममार्जतुः।

किमर्थमिदम्।

नियमार्थम्, अजादावेव क्ङिति नान्यत्र। क्वान्यत्र मा भूत्। मृष्टः मृष्टवानिति। ततो "वा" वाऽचि क्ङिति मृजेर्वृद्धिर्भवति। परिमृजन्ति परिमार्जन्ति परिममृजतुः परिममार्जतुरिति।

इहार्थमेव[1] तर्हि सिजर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम्। सिचि वृद्धिरविशेषेणोच्यते सेको यथा स्याद् अनिको मा भूदिति। कस्य पुनरनिकः प्राप्नोति। अकारस्य। अचिकीर्षीत्, अजिहीर्षीत्। नैतदस्ति। लोपोऽत्र बाधको भविष्यति।

का विधान करते हैं। उदाहरण—परिमृजन्ति परिमार्जन्ति, परिमृजन्तु परिमार्जन्तु, परिमृमृजतुः, परिममार्जतुः। यह वैकल्पिक वृद्धि पाणिनीय लोगों को भी इष्ट होने से साध्य है। इसके साधन के लिये योग विभाग करेंगे—मृजेर्वृद्धिरचः ऐसा पढ़ेंगे, तदनन्तर "अचि क्ङिति" ऐसा पढ़ेंगे। अर्थ होगा—अजादि कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर भी मृज् को वृद्धि होती है। परिमार्जन्ति परिमार्जन्तु परिममार्जतुः।

तो इस योगविभाग का क्या प्रयोजन है।

यह उत्तर योग नियमार्थ रहेगा—अजादि ही कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर वृद्धि हो।

और कहाँ न हो—मृष्टः मृष्टवान् (यहाँ क्त क्तवतु कित् हैं पर अजादि नहीं)।

इसके अनन्तर "वा" यह पृथक् योग पढ़ेंगे, पूर्वसूत्रसे अचि क्ङिति की अनुवृत्ति आएगी, जिससे इष्ट वैकल्पिकरूप—परिमृजन्ति परिमार्जन्ति, परिममृजतुः परिममार्जतुः सिद्ध हो जायंगे।

अच्छा तो जैसे मृजि के लिये, वैसे "सिचि वृद्धिः परस्मैपदेषु" (७।२।१) से विधीयमान वृद्धि इक्स्थानिक हो इसके लिये 'इको गुणवृद्धी' में वृद्धि ग्रहण करना चाहिये। कारण कि सिज्निमित्तक वृद्धि सामान्येन=स्थानविशेष का आश्रयण किये विना विधान की गई है, वह इक् के स्थान में हो इक्-भिन्न के स्थान में न हो।

पर सिचि वृद्धि कौन से अनिक् के स्थान में प्राप्त होती है?

अकार के स्थान में। अचिकीर्षीत्, अजिहीर्षीत्—यहाँ।

---

१. 'एव' यहाँ 'अपि' अर्थ में प्रयुक्त हुआ है।

आकारस्य तर्हि प्राप्नोति—अयासीत्[1] अवासीत्। नास्त्यत्र विशेषः सत्यां वृद्धावसत्यां वा। सन्ध्यक्षरस्य तर्हि प्राप्नोति। नैव सन्ध्यक्षरमन्त्यमस्ति। ननु चेदमस्ति ढलोपे कृते उदवोढाम् उदवोढम् उदवोढेति। नैतदस्ति। असिद्धो ढलोपः। तस्यासिद्धत्वान्नैतदन्त्यं भवति। व्यञ्जनस्य तर्हि प्राप्नोति अभैत्सीत् अच्छैत्सीत्। हलन्तलक्षणा वृद्धिर्बाधिका भविष्यति। यत्र तर्हि सा प्रतिषिध्यते-"नेटि" इति अकोषीत् अमोषीत्। सिचि वृद्धेरप्येष प्रतिषेधः। कथम्। लक्षणं[2]

नहीं, 'अतो लोप आर्धधातुके' से अचिकीर्ष, अजिहीर्ष इन सन्नन्त अङ्गों के अन्त्य 'अ' का लोप इस वृद्धि का बाधक होगा।

अच्छा तो आकार के स्थान में वृद्धि प्राप्त होती है—अयासीत्, अवासीत्—यहाँ।

यहाँ वृद्धि हो अथवा न हो कुछ अन्तर नहीं पड़ता (रूप एक ही रहता है)।

सन्ध्यक्षर को वृद्धि प्राप्त होती है।

पर अन्त्य (वृद्धियोग्य) सन्ध्यक्षर मिलेगा ही नहीं।

अजी ऐसा सन्ध्यक्षर यहाँ उदवोढाम्, उदवोढम्, उदवोढ में ढलोप होने पर मिलता है (उसे वृद्धि का प्रसङ्ग है)।

नहीं ऐसा नहीं। ढलोप के असिद्ध होने से पहले हलन्तलक्षणा वृद्धि होगी, तब ढलोप के होने पर उस के असिद्ध होने से ओकार अन्त्य न होगा, अतः उसे 'सिचि वृद्धिः' से वृद्धि न होगी।

तो व्यञ्जन के स्थान में वृद्धि प्राप्त होती है। अभैत्सीत्, अच्छैत्सीत् यहाँ।

हलन्तलक्षणा वृद्धि इस वृद्धिकी बाधिका होगी।

पर जहाँ हलन्तलक्षणा का निषेध है 'नेटि' (७।२।४) इस सूत्रसे जैसे अकोषीत् अमोषीत् (वहाँ व्यञ्जन को ही हो जाएगी)।

'नेटि' प्रतिषेध हलन्तलक्षणा वृद्धि का ही नहीं, सिचिवृद्धि का भी है। यह कैसे?

---

१. यहाँ अपवाद होने से सक् और इट् आगम पहले हो जाएंगे, तब आकार अन्त्य नहीं रहेगा सो सिचिवृद्धि न हो सकेगी, यह परिहार भी दिया जा सकता था—कैयट।

२. 'नेटि' यह शास्त्र सामान्यरूप से इडादि परस्मैपद-परक सिच् परे होने पर हलन्त को जो भी कोई वृद्धि प्राप्त होती है उस सब का निषेध करता है। अव्यक्त= निर्विशेष रूप से कथन को 'ध्वनन' कहते हैं। यहाँ भी 'नेटि' हलन्त-लक्षणा वृद्धि का ही निषेध करता है यह व्यक्ति (स्पष्टता) नहीं। ऐसा हो सकता है कि शास्त्र

हि नाम ध्वनति भ्रमति मुहूर्त्तमपि नावतिष्ठते।

अथवा "सिचिवृद्धिः परस्मैपदेषु" इति सिचिवृद्धिः प्राप्नोति। तस्या हलन्तलक्षणा वृद्धिर्बाधिका। तस्या अपि "नेटि" इति प्रतिषेधः।

अस्ति पुनः क्वचिदन्यत्रापि अपवादे प्रतिषिद्धे उत्सर्गो पि न भवति। अ[१]स्तीत्याह—सुजाते अश्वसूनृते, अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते अन्यदिति। पूर्वरूपे प्रतिषिद्धेऽयादयोपि न भवन्ति।

उत्तरार्थमेव तर्हि सिजर्थं वृद्धिग्रहणं कर्तव्यम्। सिचि वृद्धिरविशे-

---

लक्षण (सूत्र, शास्त्र) का स्वभाव है कि वह (अव्यक्त रूप से) ध्वनन करता हुआ सर्वत्र व्यापृत होता है, अत एव किसी एक लक्ष्य में ही विश्रान्त नहीं हो जाता।

अथवा 'सिचिवृद्धिः परस्मैपदेषु' इससे समान्य रूप से सिच् को निमित्त मानकर परस्मैपद प्रत्यय परे होने पर वृद्धि प्राप्त होती है। इसे हलन्तलक्षणा वृद्धि बाधती है और इस हलन्तलक्षणा का "नेटि" यह प्रतिषेध करता है।

क्या कहीं अन्यत्र भी ऐसा होता है कि अपवाद का प्रतिषेध हो जाने पर उत्सर्ग की भी प्रवृत्ति न हो? हाँ होता है देखिये—सुजाते अश्वसूनृते अध्वर्यो अद्रिभिः सुतम्, शुक्रं ते अन्यदिति। यहाँ प्रकृतिभाव से पूर्वरूप का निषेध हो जाने पर अयादि आदेश भी नहीं होते।

अच्छा तो उत्तरार्थ ही अर्थात् सिचिवृद्धि के लिये 'इको गुणवृद्धी' में वृद्धि ग्रहण करना चाहिये। सिचिवृद्धि सामान्यरूपेण (बिना प्रत्यय विशेष का आश्र-

---

की प्रतिषेध्य विषय में प्रवृत्ति होने से चरितार्थता होने पर दूसरे प्रतिषेध्य विषय में उसकी प्रवृत्ति न हो, अतः कहा है–भ्रमति अर्थात् सर्वत्र व्यापृत होता है। यह भी हो सकता है कि जब यह (शास्त्र) एक के निषेधमें व्यापृत हो रहा है उसी काल में द्वितीय विधि प्रवृत्त हो रही है और प्रवृत्त हुए विधि का निषेध हो नहीं सकता, अतः कहा है शास्त्र मुहूर्त्तमपि इत्यादि। भाव यह है कि दोनों स्थानों में युगपत् (एक साथ) व्यापार होता है। और वह 'शब्द बुद्धि कर्मणां विरम्य व्यापाराभावः' इस न्याय के बल पर।

१. 'नान्तः पादमव्यपरे' ऐसा सूत्र पाठ मानकर यह कहा है। प्रकृत्याऽन्तः पादमव्यपरे ऐसा न्यास स्वीकार करने पर तो उत्सर्ग 'एचोऽयवायावः' और तदपवाद 'एङः पदान्तादति'—इन दोनों की निवृत्ति 'प्रकृत्या'— सूत्र से हो जाती है। न कि अपवाद के द्वारा उत्सर्ग का बाध।

२. अष्टावसर न्याय से।

षेणोच्यते सा क्ङिति मा भूत् न्यनुवीत्[1] न्यधुवीत्[2]। नैतदस्ति प्रयोजनम्। अन्तरङ्गत्वादत्रोवङादेशे[3] कृतेऽनन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न[4] भविष्यति। यदि तर्हि सिच्यन्तरङ्गं भवति—अकार्षीत् अहार्षीत्, गुणे कृते रपरत्वे चानन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न प्राप्नोति। मा भूदेवम्। "हलन्तस्य—" इत्येवं भविष्यति। इह तर्हि-न्यस्तारीत्[5] न्यदारीत्[6]। गुणे कृते रपरत्वे चानन्त्यत्वाद् वृद्धिर्न प्राप्नोति। हलन्तलक्षणायाश्च "नेटि" इति प्रतिषेधः। मा भूदेवम्। लून्तस्य इत्येवं भविष्यति। इह तर्हि अलावीत् अयावीत्[7]। गुणे कृतेऽवादेशे चानन्त्यत्वाद्

यण किये), विधान की गई है, वह कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर न हो यथा न्यनुवीत् न्यधुवीत् में नहीं होती।

यह कोई प्रयोजन नहीं।

उवङ् आदेश अन्तरङ्ग है वृद्धि बहिरङ्ग है, उवङ् आदेश हो जाने पर अङ्ग के अजन्त न होने से सिचि वृद्धि की प्राप्ति ही नहीं रहती।

यदि सिच् प्रत्यय परे होने पर अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति होती हो तो अकार्षीत् अहार्षीत्—यहाँ (अन्तरङ्ग) गुण हो जाने पर रपर होने पर अच् के अनन्त्य होने से ही सिचिवृद्धि नहीं होगी।

सिचि वृद्धि मत हो, हलन्तलक्षणा वृद्धि हो जाएगी।

अच्छा तो न्यस्तारीत् न्यदारीत् में (अन्तरङ्ग गुण और रपरत्व होने पर अच् के अन्त्य न होने से सिचि वृद्धि को प्राप्ति नहीं और रही हलन्तलक्षणा, उसका प्रकृत में "नेटि" से निषेध हो जाता है।

सिचि वृद्धि मत हो, 'अतो लून्तस्य' (७।२।२) इससे यहाँ वृद्धि हो जाएगी। अच्छा अलावीत्, अयावीत्—यहाँ (अन्तरङ्ग) गुण होने पर अवादेश

---

१. न्यनुवीत्—निपूर्व णू स्तवने कुटादि तौदादिक का लुङ् में रूप।

२. न्यधुवीत्—निपूर्व धू विधूनने कुटादि तौदादिक का लुङ् में रूप।

३. उवङ् आदेश को इडादि सिच् की ही अपेक्षा है, वृद्धि को सिच् और परस्मैपद—इन दोनों की। अतः उवङ् आदेश अल्पापेक्ष होने से अंतरङ्ग है।

४. अनन्त्यत्वात् = अचोऽनन्त्यत्वात्। यद्यपि इक् परिभाषा की अनुपस्थिति में सिचिवृद्धि अन्त्य अल् मात्र को प्राप्त होती है, तथापि हलन्तलक्षणा वृद्धि द्वारा बाधित होने से इसका अजन्त अङ्ग ही विषय रह जाता है। अतः अन्त्य अच् के न होने से ऐसा कहा।

५. न्यस्तारीत्—निपूर्वकस्तॄञ् आच्छादने का लुङ् में रूप।

६. न्यदारीत् निपूर्वक दॄ विदारणे का लुङ् में रूप।

७. अयावीत् - यु मिश्रणामिश्रणयोः आदादिक का लुङ् में रूप।

वृद्धिर्न प्राप्नोति। हलन्तलक्षणायाश्च "नेटि" इति प्रतिषेधः। मा भूदेवम्। "ऌान्तस्य" इत्येवं भविष्यति। "ऌान्तस्य" इत्युच्यते, न चेदं ऌान्तम्। "ऌान्तस्य" इत्यत्र वकारोपि निर्दिश्यते। किं वकारो न श्रूयते। लुप्तनिर्दिष्टो वकारः। यद्येवम्—मा भवानवीत्, मा भवान् मीवीत्। अत्रापि प्राप्नोति। अविमव्योर्नेति वक्ष्यामि। तद्वक्तव्यम्। न वक्तव्यम्। णिश्विभ्यां तौ निमातव्यौ। यद्यप्येतदुच्यते। अथ वैतर्हि णिश्व्योः प्रतिषेधो न वक्तव्यो भवति। गुणे कृतेऽयादेशे च यान्तानां नेत्येव प्रतिषेधो भविष्यति।

एवं तर्ह्याचार्यप्रवृत्तिर्ज्ञापयति न सिच्यन्तरङ्गं भवतीति यदयम् "अतो हलादेर्लघोः" इत्यकारग्रहणं करोति। कथं कृत्वा ज्ञापकम्। अकारग्रहणस्यै-

---

हो जाने पर अच् 'अन्त्य' न मिलने से सिचि वृद्धि न होगी। हलन्तलक्षणा का प्रकृत में "नेटि" से निषेध प्राप्त है।

सिचि वृद्धि मत हो, "अतो ऌान्तस्य" से यहाँ वृद्धि हो जाएगी। पर सूत्र में "ऌान्तस्य" ऐसा पढ़ा है, यहाँ तो अङ्ग न लान्त है और न रान्त, किंतर्हि अवादेश हो जाने से वान्त है। 'व' भी यहाँ निर्दिष्ट होकर पीछे "लोपोव्योर्वलि" से लुप्त हुआ है ऐसा समझना चाहिये।

यदि ऐसा मानते हो तो अनिष्ट प्रसङ्ग होता है मा भवानवीत्, मा भवान् मवीत् यहाँ भी वृद्धि प्राप्त होती है।

इसके वारण के लिये "अविमव्योर्न" ऐसा निषेध वचन पढ़ दूँगा।

तो क्या ऐसा अपूर्व वचन पढ़ना होगा ?

नहीं, "ह्मयन्तक्षण—" (७।२।५) इत्यादि सूत्र में 'णि' 'श्वि' के स्थान में अव् और मव् को पढ़ दिया जायगा। यद्यपि ऐसा कहा जाय तो भी गौरव कुछ भी नहीं, परंतु लाघव है—णि श्वि का सूत्र में प्रतिषेध नहीं करना पड़ता। अंतरङ्ग गुण हो जाने पर अयादेश होने पर अङ्ग के यन्त होने से ही निषेध सिद्ध होगा।

अच्छा तो आचार्य की प्रवृत्ति बताती है सिच् परे रहते अंतरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती, इसी हेतु आचार्य "अतो हलादेर्लघोः" (७।२।७) में अकार ग्रहण करते हैं।

यह ज्ञापक कैसे होता है ?

---

१. (अ) मवीत्–मव बन्धने भ्वादि पं० माङ् के योग से अडागम का लोप होने पर लुङ् में रूप।

२. निमातव्यौ—निपूर्वक मेङ् प्रणिदाने भौवादिक से तव्य प्रत्यय। इस धातु का 'नि' के विना प्रयोग दुर्लभ है।

तत्प्रयोजनम्—इह मा भूत्—अकोषीत्[1] अमोषीत्। यदि सिच्यन्तरङ्गं स्याद् अकारग्रहणमनर्थकं स्यात्। गुणे कृतेऽलघुत्वाद् वृद्धिर्न भविष्यति। पश्यति त्वाचार्यो न सिच्यन्तरङ्गं भवतीति, ततोऽकारग्रहणं करोति।

नैतदस्ति ज्ञापकम्। अस्त्यन्यदेतस्य वचने प्रयोजनम्। किम्। यत्र गुणः प्रतिषिध्यते तदर्थमेतत् स्यात् न्यकुटीत् न्यपुटीत्[2]। यत्तर्हि णिश्व्योः[3]

अकार—ग्रहण का यह प्रयोजन है—अकोषीत् अमोषीत् में वैकल्पिकी वृद्धि न हो। यदि सिच् परे रहते अन्तरङ्ग (गुण) हो तो अकार ग्रहण व्यर्थ हो जाय, गुण होने पर लघु अक्षर न होने से यह वृद्धि न होगी। पर आचार्य जानते हैं सिच् परे अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती, अतः अकार ग्रहण करते हैं।

नहीं। यह ज्ञापक नहीं बनता। इस वचन का और प्रयोजन है।

जहाँ गुण का प्रतिषेध है वहाँ के लिये 'अतो हलादेः—' में अकार ग्रहण किया है—न्यकुटीत्, न्यपुटीत्। अच्छा तो जो णि श्वि का प्रतिषेध किया है वह इस

---

१. अकोषीत्—कुष निष्कर्षे आदि सेट् परस्मैपदी। इसका तिप् परे लुङ् में रूप है।

२. न्यपुटीत्—निपूर्वक पुट संश्लेषणे कुटादि तुदादि सेट् परस्मैपदी इसका तिप् परे रहते लुङ् में रूप।

न्यकुटीत् न्यपुटीत्—यहाँ गुण वृद्धि की अपेक्षा अन्तरङ्ग है, उससे वृद्धि का बाध होता है, पीछे कुटादित्व रूप हेतु से गुण का निषेध होने पर भी पाक्षिकी वृद्धि नहीं होती, इसमें 'अतो हलादेर्लघोः' में अत्-ग्रहण कारण है, न कि भ्रष्टावसर न्याय जो सिद्धान्त में है ही नहीं। अतः अत् ग्रहण की ज्ञापकता सिद्ध न हुई।

३. अच्छा तो 'णि' 'श्वि' का जो प्रतिषेध किया है वह ज्ञापक रहेगा कि सिच् परे अन्तरङ्ग शास्त्र की प्रवृत्ति नहीं होती, कारण कि यदि हो, तो गुण होने पर 'यान्त' होने से ही निषेध सिद्ध है। ज्ञापक होने पर उक्त निमान (परिवर्तन) का कुछ भी उपयोग नहीं। अयावीत् अलावीत् यहाँ 'सिच्यन्तरङ्गं नास्ति' इस भाव के ज्ञापित हो जाने पर अन्तरङ्ग गुण न होने से अङ्ग के (ओ के स्थान में अवादेश के न होने से वान्त न होने के कारण 'अतो ल्रान्तस्य' में वकार प्रश्लेष न करना पड़ेगा और न अव् मव् में अतिप्रसक्त वृद्धि को वारण करने के लिये 'अविमव्योर्न' ऐसा निषेध वचन पढ़ना होगा और नहीं अपूर्ववचन करने के गौरव के परिहार के लिये 'ह्मयन्त—' सूत्र में णि श्वि के स्थान में अव् मव् को पढ़ने की आवश्यकता होगी।

प्रतिषेधं शास्ति तेन नेहान्तरङ्गमिति दर्शयति । यच्च करोत्यकारग्रहणं लघोरिति कृतेपि ।

¹तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिः ॥

तस्मादिग्लक्षणा वृद्धिरास्थेया ॥

षष्ठ्याः स्थानेयोगत्वादिग्निवृत्तिः ॥

षष्ठ्याः स्थानेयोगत्वात्सर्वेषामिकां निवृत्तिः प्राप्नोति । अस्यापि प्राप्नोति दधि मधु । पुनर्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात् ।

बात का ज्ञापक है कि सिच् परे अन्तरङ्ग की प्रवृत्ति नहीं होती । और जो 'लघु' कहने पर भी उसे 'अ' से विशिष्ट करते हैं यह भी ज्ञापक है ।

(वा) अतः यह व्यवस्थित हुआ सिचि वृद्धि इग्लक्षणा माननी चाहिये ॥

(वा०) 'इको गुणवृद्धी' इस सूत्र में ('इकः') यह षष्ठी स्थानषष्ठी है अतः इक् की निवृत्ति (प्राप्त होती है) ।

'इकः' इस षष्ठी के स्थाने योगा षष्ठी होने से इक् मात्र को 'इको गुणवृद्धी' से विधीयमान³ गुणवृद्धि रूप आदेश द्वारा निवृत्ति प्राप्त होती है ।

(यदि 'इको गुणवृद्धी' स्वतन्त्र विधि है अनियमे नियमकारिणी परिभाषा नहीं ? तो 'मिदेर्गुणः' इत्यादि से पुनः गुण आदि विधान किस लिये किया ?

---

१. निरस्त किये हुए ज्ञापक को सिंहावलोकनन्याय से पुनः स्थिर करते हैं— 'अतो हलादेर्लघोः' में लघु ग्रहण करने पर भी जो अत् ग्रहण किया – यह ज्ञापक ही है । भाव यह है—यदि 'सिचि वृद्धिः—' में इक् ग्रहण न हो तो 'अकोषीत्' इत्यादि में अन्त्य अल् (व्यञ्जन) को वृद्धि प्राप्त होती है उसे रोकने के लिये बाध्य विशेष चिन्ता पक्ष को लेकर जो आपने सिचि वृद्धि के अपवाद हलन्तलक्षणा वृद्धि का 'नेटि' से निषेध होने पर भ्रष्टावसरन्याय से सिचि वृद्धि की अप्राप्ति स्वीकार की, उस रीति से 'न्यकुटीत्' इत्यादि में भी वृद्धि की अप्राप्ति रहेगी ।

२. तस्मात् अतः न्यनुवीत् इत्यादि में उवङ् को बाध कर प्राप्त हुई वृद्धि के निषेध के लिये इग्लक्षणा सिचि वृद्धि होती है, यह मानना होगा । कित् ङित् प्रत्यय परे होने पर इग्लक्षणा गुणवृद्धि का निषेध हो इसलिये और 'अकोषीत्' इत्यादि में अनिक् को गुण न हो इसलिये भी सिचि वृद्धि इग्लक्षणा स्वीकार करनी चाहिये । बाध्यसामान्यचिन्ता और भ्रष्टावसर न्याय तो एकदेशी की उक्ति है सिद्धान्त नहीं ॥

३. 'इको गुणवृद्धी' यह स्वतन्त्र विधायक शास्त्र है । 'इको यणचि' इसे अपने विषय में बाध लेगा, इससे वह शास्त्र व्यर्थ नहीं होता । इस पूर्व पक्ष का उत्थान 'विधिनियमयोर्विधिरेव ज्यायान्' इस न्याय के आश्रयण से होता है ।

अन्यतरार्थं पुनर्वचनम् ॥

अन्यतरार्थमेतत्स्यात्—सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुण एवेति ।

प्रसारणे च ॥

प्रसारणे च सर्वेषां यणां निवृत्तिः प्राप्नोति ! अस्यापि प्राप्नोति-याता वाता । पुनर्वचनमिदानीं किमर्थं स्यात् ।

विषयार्थं पुनर्वचनम् ॥

विषयार्थमेतत्स्यात् वचिस्वपियजादीनां कित्येवेति ।

उरण् रपरे च ॥

उरण् रपरे च सर्वेषामृकाराणां निवृत्तिः प्राप्नोति । अस्यापि प्राप्नोति—

सिद्धं तु षष्ठ्यधिकारे वचनात् ॥

सिद्धमेतत् । कथम् । षष्ठ्यधिकारे इमे योगाः कर्तव्याः । एकस्तावत्

(वा०) अन्यतर (दो में से एक गुण अथवा वृद्धि के लिये ।) पुनः विधान रहेगा ।

['इको गुणवृद्धी' से पर्याय (क्रम) से प्राप्त गुण वृद्धि में से] एक के विधान के लिये पुनः विधान हो सकता है, जैसे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' में सार्वधातुक आर्धधातुक प्रत्यय-रूप निमित्त होने पर गुण ही हो, (वृद्धि न हो) ।

(वा०) सम्प्रसारण में भी सब यणों की निवृत्ति प्राप्त होती है । याता वाता यहाँ भी । तो वचिस्वपि—इत्यादि पुनः सम्प्रसारण-विधान किसलिये किया ?

विषय नियम (=निमित्त-नियम) के लिये हो सकता है—वचिस्वपि और यजादि धातुओं को कित् प्रत्यय परे होने पर ही सम्प्रसारण हो (अकित् परे रहते न हो) ।

'उरण् रपरः'[२] में भी (स्थानषष्ठी मान कर) ऋकार मात्र की निवृत्ति प्राप्त होती है । कर्तृ हर्तृ यहाँ भी ।

(वा०) षष्ठ्यधिकार में पढ़ने से इष्टसिद्धि (सर्वाक्षेप समाधान-रूप) हो जाती है ।

इन आक्षेपों का समाधान हो जाता है । कैसे ? षष्ठी स्थानेयोगा से प्रारम्भ हुए षष्ठ्यधिकार में ये सूत्र पढ़ने चाहिये । एक='उरण् रपरः' का तो पहले ही इस

---

१. 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' में 'यणः' को स्थानषष्ठी मान कर स्वतन्त्र विधायक शास्त्र स्वीकार कर अर्थ होगा—यण् मात्र के स्थान में इक् हो और उसकी सम्प्रसारण संज्ञा होती है । इससे यण् मात्र की निवृत्ति प्राप्त होती है ।

२. उरण् रपरः—यहाँ भी ऋ के स्थान में अण् हो और वह रपर हो—यह अर्थ होगा ।

क्रियते तत्रैव । इमावपि योगौ षष्ठ्यधिकारमनुवर्तिष्येते । अथवा षष्ठ्यधिकारे इमौ योगावपेक्षिष्यामहे । अथवेदं तावदयं प्रष्टव्यः —'सार्वधातुकार्धधातुकयोर्गुणो भवति इतीह कस्मान्न भवति—याता वाता । इदं तत्रापेक्षिष्यते –'इको गुणवृद्धी' इति । यथैव तर्हि इदं तत्रापेक्षिष्यते एवमिहापि तदपेक्षिष्यामहे 'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इति ॥ इको गुणवृद्धी ॥

इति श्रीमद्भगवत्पतञ्जलिविरचिते व्याकरणमहाभाष्ये प्रथमस्याध्यायस्य प्रथमे पादे तृतीयमाह्निकं समाप्तम् ॥

अधिकार में पाठ किया हुआ है । इस सूत्र से पूर्व अथवा पश्चात् इको गुणवृद्धी तथा इग्यणः सम्प्रसारणम् पढ़ दिया जाएगा ।

अथवा षष्ठ्यधिकार में इन योगों (इको गुणवृद्धी, इग्यणः सम्प्रसारणम्) की अपेक्षा[1] करेंगे ।

अथवा स्वतन्त्र विधि मानने वाले से हम यह पूछते हैं—'सार्वधातुकार्धधातुकयोः' इस शास्त्र से जो गुण होता है वह याता वाता में क्यों नहीं होता ? तुम्हारा उत्तर यही होगा न—'इको गुणवृद्धी' कि यहाँ हम 'इको गुणवृद्धी की अपेक्षा करेंगे (अर्थात् सार्वधातुकार्ध से विहित गुण किसे हो इस अपेक्षा=आकाङ्क्षा से 'इको गुणवृद्धी' के साथ इसकी एक वाक्यता करेंगे) इस लिये जैसे 'इको गुणवृद्धी' इसकी सार्वधातुका[2]० में अपेक्षा है ऐसे ही इस में सार्वधातुका० की अपेक्षा है जिससे 'इको गुणवृद्धी' स्वतन्त्र विधि है इसका प्रत्याख्यान हो जाता है ॥

---

१. शास्त्रीयाधिकार में जैसे सम्बन्ध आकाङ्क्षामूलक होता है वैसे ही लौकिकाधिकार में भी, अतः शास्त्रीयाधिकार को कहकर अब लौकिक अपेक्षा-लक्षण अधिकार को कहते हैं । इसके लिये "षष्ठी स्थानेयोगा" को दो योगों में विभक्त कर दिया जायगा—(१) षष्ठी, (२) स्थानेयोगा । पूर्वयोग का अर्थ होगा—षष्ठ्यधिकार में जो कुछ अनुक्रम से कहा गया है वह जहाँ षष्ठी निर्दिष्ट को कार्य विधान किया गया है, वहाँ उपस्थित हो जाता है । योग्यता के अनुसार (इष्ट और व्याख्यान से भी) 'इको गुणवृद्धी' तथा 'इग्यणः सम्प्रसारणम्' इन दो की ही अपेक्षा होगी, न कि अनुक्रान्त मात्रकी ।

२. जिस प्रकार विधि को स्थानी की अपेक्षा=आकाङ्क्षा होती है इसी प्रकार इस (इको गुणवृद्धी) को भी अपने सम्बन्धी विधेय के बोधक शास्त्र (सार्वधातुका० की अपेक्षा होती है ॥

इति श्री चारुदेव शास्त्रिणः कृतिषु व्याकरणमहाभाष्यस्यादित आह्निकत्रितयस्य विवृतियुतो हिन्द्यनुवादः समाप्तिमगात् शुभं ॥

भूयादध्यायकानामध्यापकानां च ॥

रघुकोश

लेखक : रघुनाथदत्त वन्धु

यह पुस्तक छात्रों का निजी कोष है। इसमें व्यावहारिक बिखरे हुए शब्दों को वर्गक्रम से एकत्र किया गया है, जिसमें छात्रों को अनुवाद अथवा प्रयोग करने के लिए व्यावहारिक एवं उपयोगी शब्द एक ही जगह मिल जायँगे। पुस्तक में एक ओर हिन्दी अंग्रेजी के शब्द और दूसरी ओर उन्हीं के संस्कृत शब्द रखे गये हैं। आधुनिक युग के व्यवहारोपयोगी वस्तुओं के संस्कृतशब्द संस्कृतसाहित्य के भण्डारों से अन्वेषण कर यह कोष छात्र, लेखक और अन्वेषकों के लिए अत्युपयोगी डबल क्राउन बत्तीस पेजी साइज, उत्तम छपाई सफाई के साथ लगभग ४०० पृष्ठों में प्रस्तुत किया गया है। फिर भी मूल्य — ३) रुपये मात्र।

वैयाकरणसिद्धान्तकौमुदी

तत्त्वबोधिनी और बालमनोरमा – दो टीकाओं से विभूषित

सिद्धान्तकौमुदी की श्री वासुदेव दीक्षित विरचित बालमनोरमा टीका जितनी सरल, ज्ञानवर्द्धिनी और मनोरम है, ज्ञानेन्द्र सरस्वती विरचित तत्त्वबोधिनी उतनी ही प्रौढ़ और पाण्डित्यपूर्ण है। कौमुदी पढ़नेवालों को जहाँ सामान्यतया विषयावगाहन में बाल मनोरमा सहायक होती है वहाँ गम्भीर अध्ययन के लिए तत्वबोधिनी की आवश्यकता पड़ती है। इन दोनों प्राचीन और विस्तृत टीकाओं का मूल के साथ एक ही पुस्तक में सन्निवेश होने से छात्रों और विद्वानों को जो सुविधा हो गई है वह वर्णनातीत है, इन दोनों टीकाओं के सहारे छात्र इस दुरूह ग्रन्थ को आसानी से लगा सकते हैं और प्रौढ़ पाण्डित्य अर्जित कर सकते हैं। यही कारण है कि इसके संस्करण हाथों हाथ निकल जा रहे हैं। सुविधा और आकार वृद्धि के निवारण के लिये हमने इसे चार भागों में विभक्त कर दिया है—प्रथम भाग (कारकान्त) ६२० पृष्ठों का मूल्य ४.००, द्वितीय भाग (समास से तद्धित प्रकरणान्त) ६१८ पृष्ठों का मूल्य ४.००, तृतीय भाग (भ्वादि से लकारार्थ पर्यन्त) ६१८ पृष्ठों का मूल्य ४.००, चतुर्थ भाग (कृदन्त समाप्ति पर्यन्त) ६१८ पृष्ठों का मूल्य ४.००। इस प्रकार पूर्वार्ध के दो भाग और उत्तरार्द्ध के दो भाग हो गये हैं। पक्की कपड़े की जिल्द सहित चारों भाग मूल्य २०.०० कमीशन काटकर १६.००।